प्रधान सम्पादक

बालकृष्ण राव

भाग ३१
अङ्क ३-४

जुलाई-दिसम्बर
सन् १९७० ई०

सहायक सम्पादक

डॉ० सत्यव्रत सिन्हा

हिन्दुस्तानी

त्रैमासिक

[संयुक्ताङ्क]

भाग ३१	जुलाई-दिसम्बर
अंक ३-४	सन् १९७० ई०

प्रधान सम्पादक

बालकृष्ण राव

●

सहायक सम्पादक

डॉ० सत्यव्रत सिन्हा

मूल्य संयुक्तांक : ५ रुपया   वार्षिक : १० रुपया

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

अनुक्रम

इलियट का निर्वैयक्तिकता सिद्धांत और साधारणीकरण

प्रेमकांत टन्डन

टी० एस० इलियट का नाम बीसवीं शताब्दी के प्रमुख अँग्रेजी कवि—आलोचकों में परिगणित किया जाता है। अँग्रेजी साहित्य में इलियट के सैद्धान्तिक चिंतन का विशेष स्थान है। उन्होंने क्रमबद्ध रूप में सैद्धान्तिक आलोचना सम्बन्धी किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ का प्रणयन नहीं किया। आलोचक के रूप में उनकी प्रसिद्धि के प्रमुख आधार उनके वे विचार विवेचन है जो उनके अनेक फुटकर निबन्धों और उनके द्वारा की गयी शेक्सपियर, दान्ते, एन्ड्रयू मार्वेल आदि की कृतियों की व्यावहारिक आलोचनाओं में उपलब्ध होते हैं।

इलियट के काव्य सम्बन्धी विवेचनों से एक बात बिल्कुल स्पष्ट है कि उन्होंने विशुद्ध आत्माभिव्यक्तिपरक तथा भावावेगपूर्ण काव्य का प्रबल विरोध किया है। उनके आक्रमण का प्रमुख लक्ष्य रोमानी भाव-चेतना का काव्य था, क्योंकि वह मूलतः व्यक्तिवादी काव्य है। इलियट की धारणा थी कि काव्य में कवि के निजी भावों की अभिव्यक्ति काव्य में संकीर्णता की द्योतक है। इसके अतिरिक्त अनियन्त्रित भावावेग से युक्त काव्य किसी शाश्वत मूल्य की प्रतिष्ठा नहीं कर सकता; रोमानी काव्य की अतिशय कल्पनाप्रवणता एवं प्रबल भावावेगमयता उसे अस्पष्ट एवं अमर्यादित बना देती है। इसके परिणामस्वरूप मानसिक संघटना, जो काव्य का मूल तत्व है, भंग हो जाती है। उनकी स्थापना है कि काव्य में 'अनेकता में एकता' के स्वर और मर्यादित तथा व्यवस्थित भावों की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। इसलिए उन्होंने काव्य में संघटन, सम्यक् नियोजना, उपयुक्त शिल्प-विधान आदि पर विशेष बल दिया। काव्य की आत्मनिष्ठा एवं वैयक्तिकता की घोर भर्त्सना करते हुए उन्होंने एतद्विषयक चिन्तन-क्रम में सर्वप्रथम 'व्यक्तित्व से छुटकारा (एस्केप फ्राम पर्सनैलिटी) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जिसे व्यापक स्तर पर 'निर्वैयक्तिकता सिद्धान्त' अथवा 'अव्यक्तिवाद' कहा जा सकता है। प्रस्तुत सिद्धान्त का क्रोचे के चरम आदर्शवादी 'अभिव्यंजनावाद' से सीधा विरोध है। काव्य से रचनात्मक स्तर पर सम्बद्ध होने के कारण इलियट ने 'निर्वैयक्तिकता सिद्धान्त' का प्रतिपादन मूलतः और मुख्यतः कवि की रचना-प्रक्रिया के संदर्भ में किया है। परन्तु में भी प्रस्तुत सिद्धान्त को उसी अनिवार्यता के साथ लागू किया जा

सकता है जिस अनिवार्य अपेक्षा के साथ इलियट इसे कवि पर लागू करते हैं इलियट ने एक स्थान पर स्वयं इसका संकेत किया है काव्य के आस्वादन का लक्ष्य एक ऐसा विशुद्ध अनुचिंतन है, जिस पर से वैयक्तिक संवेगों की सभी प्रकार की हलचलें अपसृत हो जाती है। इस प्रकार वस्तु जैसी है, उसी रूप में हम उसे देखने का यत्न करते है।[1]

निर्वैयक्तिकता सिद्धान्त का दूसरा पक्ष स्वयं काव्य के स्तर पर व्यवस्था (आर्डर) से सम्बद्ध है। यह प्रस्तुत सिद्धान्त के प्रथम पक्ष का सहज प्रतिफलन है। वैयक्तिकता के परिहार एवं निर्वैयक्तिकता की सिद्धि के फलस्वरूप भावावेग नियन्त्रित होता है और काव्य में भाव, अनुभूति, विचार आदि का कलात्मक संतुलन स्थापित होता है। इस प्रकार काव्य सम्बन्धी समस्त विवेचन की केन्द्रत्रयी – कवि-काव्य और आस्वादक—में से प्रत्येक के धरातल पर इलियट ने वैयक्तिकता का निषेध कर काव्य को मर्यादित, संतुलित, व्यवस्थित करने एवं उसे वस्तुगत रूप प्रदान करने की चेष्टा की। काव्य कृति के सम्बन्ध में, इलियट ने एक अन्य सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया है, जिसे 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव' अथवा 'वस्तुगत सह सम्बन्धी' का सिद्धान्त कहते हैं। यह सिद्धान्त काव्य की आत्मनिष्ठता का आत्यन्तिक निषेध कर काव्य की निपट वस्तुरूपता का प्रतिपादन तो नहीं करता, पर काव्य की वस्तुनिष्ठ प्रकृति को अपेक्षाकृत महत्ता अवश्य प्रदान करता है।

निर्वैयक्तिकता-सिद्धान्त के प्रतिपादन का सूत्र इलियट ने परम्परा और काव्य के तारतम्य की अपनी व्यक्तिगत अवधारणा के आधार पर प्राप्त किया है। वे, इतिहास और परम्परा को काव्य का आधार मानते हैं, और इसे ही उन्होंने अपने काव्य-विषयक समस्त चिन्तन-विवेचन का प्रस्थान-बिन्दु स्वीकार किया है। अपने प्रसिद्ध निबन्ध 'परम्परा और वैयक्तिक प्रतिभा' में उन्होंने काव्य और परम्परा के अनिवार्य अपेक्षित सम्बन्ध का अत्यन्त निर्भ्रान्त शब्दावली में महत्व-प्रतिपादन किया है। काव्य और परम्परा के पारस्परिक सम्बन्ध के गहरे और सूक्ष्म विश्लेषण को एवं उसके फलस्वरूप काव्य में अव्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा को, इलियट के समग्र चिन्तन की एक महत् उपलब्धि के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

इलियट के अनुसार परम्परा का तात्पर्य 'संस्कृति' से है। परम्परा और इतिहास से उनका आशय किसी विशिष्ट जाति एवं समाज के समग्र सांस्कृतिक उत्तराधिकार से है। संस्कृति समाज के जीवन का एक ढंग विशेष है, वह एक ऐसा ढङ्ग है जो रक्त-संबन्ध से जुड़े हुए पूरे समाज की उपलब्धियों एवं रीतिरिवाजों को अभिव्यक्त करता चलता है। यह ढङ्ग ही काव्य में वैयक्तिक विभिन्नताओं का परिहार कर अनेकता में एकता की स्थापना करता है, कलाकारों को जाने-अनजाने एक सामान्य उत्तराधिकार और सामान्य लक्ष्य के सूत्र में बाँध देता है।[2] इलियट की दृष्टि में समस्त साहित्य अखण्ड-रूप है, किसी विशिष्ट काल अथवा व्यक्ति के साहित्य का अपना कोई पृथक् अस्तित्व नहीं होता, साहित्य मात्र में परम्परा की अखण्ड एवं निर्बाध अभिव्यक्ति होती चलती है। इलियट परम्परा को बहुत व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हैं। परम्परा में वर्तमान और अतीत दोनों का समावेश है; वह अतीत-बोध भी है और वर्तमान-बोध भी; वह शाश्वत् भी है और परिवर्तनशील भी; उसकी सतत् गत्यात्मक धारा अपने अखण्ड अविच्छिन्न प्रवाह में समग्र जातीय अथवा सामाजिक जीवन के अयुत्कृष्ट अर्थों को समाहित करती हुई प्रवाहित होती है जो अपेक्षाकृत और अनुत्कृष्ट

अंश होते हैं, वे परम्परा के अखंड प्रवाह में स्वयमेव विलीन होकर नष्ट हो जाते हैं। श्रेष्ठ काव्य की रचना के लिए कवि को समाज की, देश की इस अखंड चेतना का ज्ञान होना चाहिए। यह ज्ञान उसके लिए अनिवार्य है; उसको प्राप्त किये बिना वह उत्कृष्ट काव्य की रचना कर ही नहीं सकता। प्रत्येक युग में समय की शाश्वत् गति और मानव इतिहास की सतत गत्यात्मकता के साथ ही उस युग की विभिन्न परिस्थितियों में भी परिवर्तन होता है। काव्य प्रकारान्तर से जीवन की ही अभिव्यक्ति है, इस लिए यह नितान्त स्वाभाविक है कि उसके स्वरूप और उसके आकलन के मानदण्डों में भी परिवर्तन हो। परन्तु परम्परा के सम्यक् ज्ञान के अभाव में यह परिवर्तन किसी भी पक्ष में सम्यक् रूप में प्रतिफलित नही किया जा सकता। इलियट की दृष्टि में परम्परा कोई जड़, स्थिर वस्तु नहीं है, उसमें नवीनता का सहज समावेश है और नवीनता एवं परिवर्तन इलियट के अनुसार सदा ही श्रेय हैं। पर इस परम्परा का ज्ञान प्राप्त करने की दिशा क्या होनी चाहिए? इलियट के अनुसार इसकी दिशा यही है कि वर्तमान और अतीत दोनों का संस्कृति विशेष के संदर्भ मे ज्ञान प्राप्त किया जाय वर्तमान को अतीत के संदर्भ में और अतीत को वर्तमान के संदर्भ में देखा-समझा जाय। यह ज्ञान स्वतः उपलब्ध नहीं हो जाता, अर्जित करना होता है।

प्रश्न है कि काव्य में परिवर्तन को प्रतिफलित करने, नवीनता को समाविष्ट करने की समुचित दिशा क्या हो सकती है? समुचित दिशा यही हो सकती है कि परिवर्तित युगीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष में काव्य में नवीनता का समावेश जातीय जीवन एवं उसकी परम्परा के अनुसार ही हो, किसी दूसरी जाति की संस्कृति के अनुसार अथवा उसके अनुसरण पर नहीं। इलियट के अनुसार इसका तात्पर्य यह हो सकता है कि भारतीय काव्य में नवीनता का समावेश भारतीय परम्परा और संस्कृति के अनुरूप ही होना चाहिए, किसी दूसरे देश की परम्परा के अनुरूप अथवा उसके आधार पर नहीं, क्योंकि ऐसा करने से वह काव्य युग-जीवन मे खप नहीं सकता। भारत के आधुनिक साहित्यकार, जो पश्चात्य काव्य-परम्परा के अनुकरण, बल्कि अंधानुकरण, को फैशन मानते हैं, इलियट की दृष्टि में कदाचित् हेय ठहराये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त, कवि-कलाकार का यह भी दायित्व है कि वह अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों को व्यापक सामाजिक अनुभूतियों एवं भावों—परम्परा—में विलीन कर दे। परम्परा-बोध उसकी वैयक्तिक अनुभूतियों से अधिक मूल्यवान है। इलियट इसी को मूल्यवान के प्रति आत्म-समर्पण' कहते हैं। कवि का यह दायित्व है कि वह अतीत बोध को अर्जित कर उसे परिवर्तित एवं परिविकसित करता रहे और इस क्रम मे अपने व्यक्तित्व को उसके प्रति पूर्णतया समर्पित कर दे। जब कवि परम्परागत सांस्कृतिक अनुभूतियों को अभिव्यक्त करता है, तब उसके व्यक्तिगत भाव सार्वभौम में रूपान्तरित होकर व्यक्त होते है। 'कविता व्यक्तिगत भावों का प्रकाशन न होकर उनसे छुटकारा है' इलियट के अनुसार इस उक्ति का यही तात्पर्य है। यही काव्य में निर्वैयक्तिकता की सिद्धी है। कवि तो एक माध्यम मात्र रहता है। काव्य में उसके निजी भावों-प्रभावों की अभिव्यक्ति नहीं होती, अपितु जातीय जीवन के प्रभावों की अभिव्यक्ति होती है। इसके विपिरीत यदि कोई कवि अपनी रचना मे अपने निजी दुख दर्द की गाथा लिखता है तो वह काव्य के महत् उद्देश्य से च्युत हो जाता है

कवि अपनी रचनाओं मे निर्वैयक्तिकता की सिद्धि किस प्रकार करता है, अथवा उसका काल निर्वैयक्तिक कैसे हो सकता है, इसके स्पष्टीकरण के लिए इलियटने कवि और उसके काव्य के पारस्परिक सम्बन्ध का निरूपण करते हुए एक दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। 'दोनों गैसो (आक्सीजन और सल्फर-डाइ-आक्सा इड) को जब प्लेटिनम के तार की मौजूदगी मे मिलाया जाता है तो उनसे सल्फयूरिक एसिड बनता है। यह संयोग तभी होता है जब प्लेटिनम का तार मौजूद हो तथापि नये बने एसिड में प्लेटिनम के तार का लेशमात्र भी नही होता और प्लेटिनम पर भी कोई प्रभाव नही प्रतीत होता—उसमें न कोई परिवर्तन आता है, और न उसका कोई अंश घोल में जाता है। कवि का मन इस प्लेटिनम के टुकड़े की भाँति होता है। व्यक्ति के अनुभव को वह अंशत: अथवा पूर्णत: प्रभावित कर सकता है, परन्तु कलाकार जितना सिद्धहस्त होगा उतने ही उनमें भोक्ता और स्रष्टा मन परस्पर पृथक् रहेंगे और उतनी ही सुष्ठु रीति से मन अपनी उपादान रूप वासनाओं को आत्मसात् और रूपान्तरित करेगा।[3]

इस उद्धरण से ऐसा प्रतीत होता है कि प्लेटो की भाँति इलियट भी कवि को एक यान्त्रिक माध्यम मात्र स्वीकार करते हैं। यहाँ उन्होंने बताया है कि कवि-मानस में भाव और प्रभाव संस्पर्श कवि व्यक्तित्व से सर्वथा असंपृक्त रहते हुए उसी प्रकार विशिष्ट एव अप्रत्याशित रूपों में संघटित होती रहती हैं, जिस प्रकार प्लेटिनम के टुकड़े की उपस्थिति में उक्त दोनों गैसें संघटित होकर एसिड बनाती हैं और प्लेटिनम का टुकड़ा सर्वथा अप्रभावित एवं निष्क्रिय रहता है। इलियट ने इस संबंध में अन्यत्र कहा है। 'कवि का मन वास्तव में एक ऐसा ग्रहण-यंत्र है जो उन सभी अगणित अनुभूतियों, वाक्यांशो तथा बिम्बों को ग्रहण करता है और उन्हें जमा करता है जो वहाँ पर तब तक पड़े रहते है जब तक नवमिश्रित वस्तु को रूप प्रदान करने के लिए सभी तत्व एक साथ उपस्थित नही हो जाते।'[4]

प्रस्तुत उद्धरण में इलियट ने कवि-मन के लिए (यंत्र-ग्रहण-यंत्र) शब्द का प्रयोग किया है, जिससे यह अनुमान होता है कि वे कवि का एक स्व-चालित यंत्र और काव्य-कृति को कवि की अचेतावस्था की उपज स्वीकार करते हैं। एक अन्य स्थान पर उन्होंने बलपूर्वक कहा है कि कला का जीवन सर्वथा स्वतंत्र है, काव्य-कृति का आकलन कवि-व्यक्तित्व से सर्वथा असंपृक्त रूप मे किया जाना चाहिये, और यह कि उत्कृष्ट आलोचना कविता की होती है, कवि की नही। इलियट के ये सारे कथन इस अनुमान की पुष्टि करते हैं कि इलियट काव्य में कवि-व्यक्तित्व की सत्ता का आत्यन्तिक निषेध स्वीकार करते हैं। उद्धरण में सृजन-प्रक्रिया के संबन्ध में प्लेटिनम से तार का रूपक उपस्थित करते हुए उन्होंने यह भी बताया है कि एसिड के निर्माण की प्रक्रिया मे प्लेटिनम का तार 'निष्क्रिय' रहता है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि काव्य-सृजन की प्रक्रिया में कवि निष्क्रिय रहता है, और सृजन-प्रक्रिया कवि के चेतन मन की प्रक्रिया न होकर एक यांत्रिक प्रक्रिया है। पर प्रश्न यह है कि क्या कलाकार के व्यक्तित्व से सर्वथा अछूती किसी कलाकृति की कल्पना हो सकती है जो कलाकार की अनुभूति के योग के बिना ही निर्मित हो गयी हो? क्या सृजन प्रक्रिया वस्तुत

कोई जड़, यांत्रिक प्रक्रिया है ? क्या वह कलाकार के सतत चेतन मन की प्रक्रिया नहीं है ? स्पष्ट है कि इन प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक नहीं हो सकता । तब क्या इलियट काव्य में कवि-व्यक्तित्व के सहज, अनिवार्य योग के तथ्य को हृदयंगम नहीं कर पाए, या उनका तत्संबंधी समस्त विवेचन भ्रामक है ? इलियट के विषय में कोई ऐसी धारणा बनाना कदाचित् भूल होगी । इस सम्बन्ध में यह अवश्य कहा जा सकता है कि इलियट ने अपने एतद्विषयक विवेचन को बहुत स्पष्ट शब्दावली में प्रस्तुत नहीं किया या नही कर पाये, जिसके फलस्वरूप भ्रम की स्थिति कहीं-कहीं उत्पन्न हो गयी है । सन् १९४० मे दिये गये यीट्स विषयक अपने एक भाषण में उन्होंने कहा है, यीटस के प्रारम्भिक कविता संग्रहों की सभी कविताओं में मुझे इधर-उधर केवल कुछ ऐसी पंक्तियाँ मिल जाती है जिनमे अपूर्व व्यक्तित्व का भान होता है, जो हमें कवि के मानस और अनुभूतियों के विषय में और अधिक जागने की जिज्ञासा और उत्तेजना में बांध देता है । यीट्स के निजी भावात्मक अनुभव की उत्कटता हमें कदचित् ही मिलती । उसकी कुछ उत्तरकालीन कृतियों में हमें यह तत्व मिलता है ।

इलियट के स्फुट समीक्षात्मक निबन्धों के संकलन से "सैकेड वुड" जिसमें उनका प्रसिद्ध निबन्ध "ट्रेडीशन एंड द इंडिविजुअल टैलेंट" संकलित है, जिसमें उन्होंने काव्य में निर्वैयक्तिकता की सिद्धि को अनिवार्य माना है, का प्रकाशन सन् १९२८ में हुआ था पर १९४० में उन्होंने याट्स के विषय में उक्त कथन किया है । इसमें यह विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि इलियट यीट्स की प्रारम्भिक कविताओं में उनका अपूर्व व्यक्तित्व न मिलने, उसके भावात्मक अनुभवों की उत्कटता न मिलने के कारण चिन्तित है । इलियट, जो अभी तक काव्य को "व्यक्तित्व से छुटकारा मानते आये हैं, यीटस के सम्बन्ध में जब यह आपत्ति कर रहे हैं कि उसकी कविताओं मे उसका व्यक्तित्व मुखरित नहीं होता, इसलिए वे उत्कृष्ट नहीं हैं । उक्त कथनों में निहित विरोधाभास को इलियट ने स्वयं लक्षित किया और उसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होने कहा है," मैंने अपने प्रारम्भिक लेखों में कला की निर्वैक्तिकता को स्वीकार किया है, और (जब) यह प्रतीत होता है कि यीट्स की उत्तरकालीन कविताओं को, उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होने के कारण, श्रेष्ठ बताने से मै अपने उस मत का विरोध कर रहा हूँ । यह हो सकता है कि मैं अपनी बात (उस समय मत) ठीक से कह न सका, या न व्यक्त कर सका, या उस विचार को मैंने अप्रौढ़ रूप से ग्रहण किया । किन्तु अब मै सोचता हूँ कि इस विषय में तथ्य इस प्रकार है—निर्वैयक्तिकता के दो रूप होते हैं । एक वह निर्वैयक्तिकता है जो केवल कुशल शिल्पी के लिए सहज होती है । दूसरी वह है जो प्रौढ़ कलाकार के द्वारा अधिकाधिक उपलब्ध की जाती है ।... यह दूसरे प्रकार की निर्वैयक्तिकता उस प्रौढ़ कवि की होती है जो अपने उत्कट और व्यक्तिगत अनुभवों के माध्यम से, सामान्य सत्य को व्यक्त करने में समर्थ होता है । वह अपने अनुभव की सम्पूर्ण विशिष्टता को, उसके द्वारा सामान्य प्रतीक प्रस्तुत करने के लिए बनाए रखता है ।

इलियट के उक्त परवर्ती मत से उनके पूर्ववर्ती मत का विरोधाभास और पुष्ट होता है पर जैसा ऊपर कहा जा चुका है और इलिय॰ ने स्वय भी स्वीकार किया है यह केवल

विरोधाभास है, वास्तविक विरोध नहीं, और इस प्रतीयमान विरोध का कारण विषय का सम्यक् और स्पष्ट शब्दावली में व्यक्त न किया जाना है। इलियट का विचार अप्रौढ़ या उनकी चिन्तना अपरिपक्व नहीं है; उन्होंने काव्य की सृजन-प्रक्रिया को, सही रूप में हृदयंगम किया है, इसमें संदेह नहीं,बस वे उसे स्पष्ट ढंग से कह नहीं पाये। कालान्तर में उन्होंने उसे स्पष्ट शब्दावली में व्यक्त किया है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में भी साधारणीकरण के अन्तर्गत "निर्वैयक्तिकता" की चर्चा की गयी है। वास्तव में व्यक्ति रूप कवि के दो पक्ष है : १—भोक्ता या व्यक्ति रूप कवि, और २—सर्जक कवि। पहला पक्ष कवि का सामान्य मानवीय व्यक्तित्व है। जिस प्रकार सामान्य व्यक्ति अपने दैनंदिन जीवन मे नाना प्रकार के भावो का अनुभव करता है उसी प्रकार कवि भी करता है। परन्तु सामान्य व्यक्ति से कवि एक बात में विशिष्ट है कि वह सांसारिक अनुभवों को भावित कर काव्य रूप में व्यक्त भी कर सकता है। भावों के भावन और अभिव्यक्तीकरण के क्रम में उसका स्रष्टा मन सक्रिय होता है, जिस कवि का सर्जक व्यक्तित्व (पोइटिक अथवा क्रियेटिव पर्सेनैलिटी) भी कहते हैं। यह सर्जक व्यक्तित्व कवि के सामान्य मानवीय अर्थात लौकिक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं करता, अथवा काव्य 'व्यक्तित्व से छुटकारा' है, यहाँ उनका तात्पर्य कवि के उसी सामान्य, लौकिक व्यक्तित्व से है, भोक्ता व्यक्ति रूप कवि से है, उसके सर्जक व्यक्तित्व से नहीं। कवि के सर्जक व्यक्तित्व के योगदान के अभाव मे काव्य की कल्पना ही असंगत है। इलियट ने भी इस तथ्य को भली-भाँति हृदयंगम किया है। वे काव्यसृजन में कवि की महत्ता स्वीकार न करते हों, अथवा उसकी अनिवार्य-अपेक्षा न मानते हों, ऐसी बात नहीं है, यह प्लैटिनम वाले रूपक से सिद्ध है। जिस प्रकार प्लैटिनम की उपस्थिति में ही दोनों गैसें मिलकर एसिड बना पाती हैं, भले ही प्लैटिनम अप्रभावित रहता हो, उसी प्रकार कवि के सर्जक व्यक्तित्व की मौजूदगी में अथवा उसके माध्यम से ही भाव एवं भावनाएँ काव्य रूप में व्यक्त हो पाती है, भले ही कवि-व्यक्तित्व अप्रभावित रहता हो। यह अप्रभावित रहने वाला और अघुलनशील व्यक्तित्व कवि का सामान्य मानवीय व्यक्तित्व होता है, क्योंकि काव्य में कवि के वैयक्तिक भावों, उसके निजी अनुभवों की अभिव्यक्ति नहीं होती अपितु उसके कलात्मक अनुभव (पोइटिक या क्रियेटिव एक्सपीरियंस) की अभिव्यक्ति होती हैं जो कवि के सर्जक व्यक्तित्व के माध्यम से होती है। निजी भाव, व्यक्तिगत अनुभव, लौकिक, व्यक्ति संसर्गयुक्त एवं सुख-दुःखात्मक होते हैं, और यही कारण है कि वे आस्वाद्य नहीं हो सकते। काव्य का अनुभव अन्य सभी प्रकार के लौकिक अनुभवो से विलक्षण है, इलियट इसे स्वीकार करते हैं :

(अ) "दि एंड आफ दि एन्ज्वायमेंट आफ पाइट्री इज ए प्योर कन्टेम्प्लेशन फ्राम व्हिच आल दि ऐक्सीडेन्ट्स आफ पर्सनल इमोशन आर रिमूव्ड"।

(ब) "दि इफेक्ट आफ ए वर्क आफ आर्ट आपान दि पर्सन हू एन्ज्वायज इट इज एन एक्सपीरियेंस डिफरेन्ट इन काइन्ड फ्राम एनी एक्सपीरियेंस नाट आफ आर्ट

विलक्षण इसीलिए है कि काव्य कवि के उस विशिष्ट सर्जनात्मक व्यक्तित्व का प्रतिफलन है जो व्यक्तिगत ससर्गों से मुक्त होता है और व्यक्तिगत संसर्ग मुक्त सहृदय

द्वारा ही आस्वाद्य होता है। भावन एवं सृजन के क्षणों में कवि अपने सामान्य, संसारी व्यक्तित्व से ऊपर उठ जाता है, वैयक्तिक रागद्वेषों से मुक्त हो जाता है, जिसका सहज परिणाम यह होता है कि कवि का किसी विशिष्ट स्थिति, किसी घटना अथवा भाव का अनुभव देश-कालादि की सीमाओं से मुक्त होता हुआ कलात्मक अनुभव में रूपान्तरित होकर आस्वाद्य बन जाता है। यह सब कवि की सर्जनात्मक कल्पना अथवा प्रतिभा के सहारे होता है। इलियट के अनुसार काव्य में निर्वैयक्तिकता की सिद्धि की प्रक्रिया और उसका स्वरूप यही हो सकता है। उन्होंने लिखा भी है कि जो कलाकार जितना अधिक पूर्ण एवं परिपक्व होगा, उसमें भोक्ता व्यक्ति एवं स्रष्टा मन का पार्थक्य उतना ही अधिक स्पष्ट और पूर्ण होगा।[७] 'अर्थात् प्रौढ़ कवि अपने काव्य को अधिक से अधिक निर्वैयक्तिक बनाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। यह निर्वैयक्तिकता केवल कवि के निजी भावों का अपसरण नहीं है, अपितु निजी भाव मात्र का अपसरण है, वैयक्तिकता मात्र का अपसरण है। इलियट ने इस तथ्य को अपने अनेक कथनों में स्वीकार किया है—

(क) "महान् कला निर्वैयक्तिक होती है, इस अर्थ में कि व्यक्तिगत संवेग और व्यक्तिगत अनुभव विस्तृत होकर एक प्रकार के निर्वैयक्तिक में पूर्णता प्राप्त करते हैं, इस अर्थ में नहीं कि व्यक्तिगत अनुभव तथा मनोविकार से वे विच्छिन्न हो जाते हैं।"[८]

(ख) "काव्य के आस्वाद का लक्ष्य एक ऐसा विशुद्ध अनुचिन्तन है जिस पर से वैयक्तिक संवेगों की सभी प्रकार की हलचलें अस्तुत हो जाती हैं।"[९]

(ग) retaining all the particularity of his experience, to make of it a general symbol."[१०]

इलियट काव्य में कवि-व्यक्तित्व के निरन्तर विलय की बात करते हैं, परम्परा के प्रति कवि के पूर्ण आत्म-समर्पण को श्रेय मानते हैं। 'साधारणीकरण' के अन्तर्गत भी इस संबंध में विस्तृत चर्चा की गयी है। संस्कृत काव्यशास्त्र में भी काव्य में कवि के व्यक्तिगत मनोविकार की अभिव्यक्ति को स्वीकार नहीं किया गया है। ध्वन्यालोक लोचन में "शोक: श्लोकत्वमागत:' की व्याख्या के संदर्भ में अभिनवगुप्त ने कहा है, "न तु मुने: शोक: इति मन्तव्यम्' अर्थात् श्लोक रूप में परिणत होने वाला यह शोक मुनि का व्यक्तिगत मनोविकार नहीं था। पर क्रौंच वध की इस विशिष्ट घटना को देखकर कवि ने जिस भाव का अनुभव किया, क्या वह उसका निजी भाव नहीं कहा जायगा ? इसका स्पष्ट उत्तर है कि वह उसका निजी अनुभव तो था, पर निजी भाव या मनोविकार नहीं। निजी अनुभव भी इस दृष्टि से कि कवि ने उस सारी घटना का एक विशिष्ट रूप, एक विशिष्ट परिवेश में और एक विशिष्ट दृष्टि से अनुभव किया और वह विशिष्ट अनुभव कवि की भावयित्री प्रतिभा के योग से कलात्मक अनुभव में रूपान्तरित हो गया। यह कलात्मक अनुभव के अन्तर्गत अनुभूत होने वाला भाव [शोक] न कवि का व्यक्तिगत मनोविकार था, न क्रौंची और न किसी और का ही। वह भाव वस्तुत: काव्योपम भाव था जो कवि के मानस में उत्पन्न हुआ था और कवि प्रतिभा के योगदान से सार्वभौम बन गया था। "सार्वभौम" का अर्थ 'प्रत्येक का' नहीं है, अपितु 'किसी का न होते हुए सबका' है यह पर्सनल इम्पर्सनल

अनुभव या 'भाव है उसकी सत्ता वस्तुरूप है। हुआ यह कि वध की घटना देखते समय कवि मानस में संस्कार रूप में सुप्त स्थायी भाव, शोक जाग्रत हुआ। स्थायी भाव प्रकृत्या सार्वभौम होने के कारण साधारणीकरण की संभावना से युक्त होता है। डॉ० निर्मला जैन ने स्थायी के सार्वभौम स्वरूप के विषय में लिखा है : 'अन्य भावों के साथ स्थायी का वही सम्बन्ध है जो विशेषों के साथ सामान्य का होता है। जिस प्रकार काव्यगत चरित्र एवं बिम्बों में अनेक छोटे-छोटे ब्यौरों के बीच एक सामान्य तत्व अन्तर्निहित रहता है, उसी प्रकार काव्यगत भावों में भी अनेक संचारियों के बीच एक स्थायी की सत्ता स्वीकार की जा सकती है। इस प्रकार स्थायी भाव प्रकृत्या 'सामान्य' ही होते हैं। सामान्य होने के कारण ही स्थायी भावों के साधारणीकरण की समस्त संभावना उनकी प्रकृति में ही विद्यमान है।''[११]

इस प्रकार साधारणीकरण सिद्धान्त के अन्तर्गत काव्य मे काव्योपम, सार्वभौम स्थायी की अभिव्यक्ति का स्वीकार प्रकारान्तर से कवि का अपने निजी व्यक्तित्व, निजी भाव, का सार्वभौम के प्रति समर्पण तथा काव्य मे निर्वैयक्तिकता की सिद्धि ही है। स्मरणीय है कि इलियट ने अपने समस्त काव्य-चिन्तन में स्थायी भाव जैसे किसी तत्व का उल्लेख नहीं किया हैं; पाश्चात्य काव्य-चिंतन में स्थायी की धारणा ही अनुपलब्ध है। पर इलियट जिसे 'परम्परा अथवा 'सामूहिक भाव अथवा चेतना' का अभिधान दे रहे है, वह दूसरी शब्दावली में स्थायी भाव ही है। इलियट की 'परम्परा' में सामूहिक भाव का और सामूहिक भाव' में स्थायी का समावेश है, और सामूहिक भाव व्यक्तिगत संसर्ग युक्त नही होते। जहाँ इलियट कहते है कि काव्य व्यक्तित्व से छुटकारा है, वहाँ वे कवि के लौकिक, बिल्कुल निजी व्यक्तित्व का परिहार तो स्वीकार करते ही हैं,[१२] उनका आशय व्यक्तित्व-मात्र के परिहार से है, यह पहले बताया गया है। इसका सहज परिणाम यह है कि काव्यवर्णित भाव काव्योपम हो जाता है, वह न मेरा रह जाता है, न तेरा, न कवि का और न किसी और का; उसकी सत्ता वस्तुनिष्ठ हो जाती है और इसलिए वह सर्वजन ग्राह्य बन जाता है। इस प्रकार 'महान् कला निर्वैयक्तिक होती है'—इलियट की प्रस्तुत उपपत्ति का आशय स्पष्ट है। पर जैसा कहा जा चुका है, इलियट काव्य में कवि-व्यक्ति मात्र का निषेध नही करते, क्योंकि ऐसा करने पर रचनागत वैशिष्ट्य के औचित्य को सिद्ध करना प्रायः असंभव हो जायगा। इसलिए उन्होंने स्वयं लिखा है :''...retaining all the particularity of his experience, to make of it a general symbol I'' अतएव इलियट के विवेचन में कवि के सर्जनात्मक व्यक्तित्व के योगदान का निषेध नहीं है। काव्यास्वाद के विषय में एम० हिरियाना ने लिखा है : "It is a personal impersonal experience।''[१३] लौकिक व्यक्तित्व और निजी भावों का अपसरण हो जाने पर काव्य वैयक्तिकता और अतिशय भावुकता से मुक्त होकर संतुलित और व्यवस्थित हो जाता है, जिसकी सिद्धि इलियट को अभिप्रेत है। सृजन के धरातल पर यदि कवि आत्मसमर्पण के द्वारा निर्वैयक्तिकता की सिद्धि करता हुआ काव्य को वस्तुनिष्ठ एवं सर्वजनग्राह्य रूप

प्रदान करता है, तो आस्वाद के धरातल पर सामाजिक भावावेश यहाँ तक कि व्यक्तिगत रागद्वेष मात्र से मुक्त होकर काव्य के आस्वादन में प्रवृत्त होता है।

इलियट के निर्वैयक्तिकता अथवा वस्तुनिष्ठता के सिद्धान्त का एक अन्य पक्ष है, जिसका सम्बन्ध भाव-व्यंजना के माध्यम से है। इलियट की मान्यता है कि कवि अपने मानसगत काव्योपम भाव को सीधे पाठक तक संप्रेषित नहीं कर सकता, उसकी सम्यक् अभिव्यक्ति के लिए मूर्त्त माध्यम की आवश्यकता है। अपने एक प्रसिद्ध निबन्ध "हैमलेट एण्ड हिज प्रॉब्लम्स" में हैमलेट के संदर्भ में उक्त माध्यम के स्वरूप की चर्चा करते हुए इलियट ने लिखा है— "कला के रूप में संवेगों की अभिव्यक्ति का एकमात्र ढंग वस्तुगत सहसंबंधी की खोज है, दूसरे शब्दों में वस्तुओं की एक राशि, एक स्थिति, घटनाओं की एक शृंखला जो उस संवेग विशेष के लिए "फार्मूला" बन जाय, ऐसा फार्मूला जिसमें ऐन्द्रिय अनुभव मे परिणत होने वाले बाह्य तथ्यों के प्रस्तुत होने पर वह संवेग तत्काल उद्बुद्ध हो जाता है।"[१४] इलियट की यह शब्दावली काफ़ी स्पष्ट है। काव्योपम भावों को कवि कुछ ऐसी स्थितियों, वस्तुओं, घटनाओं आदि के माध्यम से प्रस्तुत करता है, कि उनसे सपर्क स्थापित होते ही पाठक के मानस में भी तत्काल वह संवेग उद्बुद्ध हो जाता है, जिसकी अभिव्यक्ति के निमित्त वे वस्तुएँ आदि 'फ़ार्मूला' बनी हैं। इस प्रकार यह सामग्री (वस्तुगत सह संबंधी = वस्तुएँ, स्थितियां, घटनाएं) कवि की अमूर्त्त अनुभूति, काव्योपम भाव का मूर्त रूप हैं, जिनसे कवि एवं ग्राहक के बीच संबंध-सूत्र स्थापित होता है।

साधारणीकरण सिद्धान्त के अन्तर्गत भी कवि के अन्तर्गत के काव्योपम भाव के सम्मूर्त्तन का विशद विवेचन है। इलियट के वस्तुगत सहसंबंधियों के समकक्ष संस्कृत काव्यशास्त्र के विभानुभावादि प्रस्तुत किये जा सकते हैं। कवि भावों को उन्हीं वस्तुरूप विभावानुभावों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है, जिनसे साक्षात्कार होते ही पाठक के हृदय में वही भाव उद्बुद्ध हो उठते हैं। एक प्रकार से वे वस्तुगत सहसंबंधी, विभावानुवादि, भाव के कारण है। पर संस्कृत काव्यशास्त्र में इसका निर्भ्रान्त विवेचन है कि ये विभानुभाव लौकिक कारण नहीं हैं और न उनके साक्षात्कार से सहृदय हृदय में उद्बुद्ध होने वाला भाव लौकिक भाव ही है। लौकिक कारण एवं भाव से इनके पार्थक्य एवं वैलक्षण्य के बोध के लिए ही उन्हें विभाव, स्थायीभाव की संज्ञाएं दी गयी हैं। ध्वन्यालोक लोचन मे अभिनवगुप्त ने यह चर्चा उठायी है कि विभावानुभावों से भाव किस प्रकार उद्बुद्ध अथवा अभिव्यक्त होते हैं और इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने बताया है कि वे घट-दीप-न्याय से प्रकाशित अथवा अभिव्यक्त होते हैं, विभाव और स्थायीभाव में कोई तार्किक अथवा आनुमानिक संबंध नहीं है। इलियट ने भाव-व्यंजना की प्रक्रिया पर संभवत: कोई प्रकाश नहीं डाला। पर यह उन्होंने अवश्य कहा है कि कवि अपने भावों को पाठक तक सीधे संप्रेषित नहीं कर सकता संप्रेषण के लिए मूर्त माध्यम की आवश्यता है। भारतीय काव्यशास्त्र के एक आधुनिक अध्येता श्री कृष्ण रायन ने अपने एक निबन्ध "रस और वस्तुगत सहसंबंधी" में इस विषय पर प्रश्न उठाया है कि "भाव और ऐन्द्रिय सह सबंधियों के बीच जो संबंध भाव होता है' उसकी निश्चित प्रकृति क्या है और फिर वह

प्रक्रिया क्या है जिससे भाव का उदय होता है ? "और अभिनवगुप्त के आधार पर इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री रायन ने कहा है कि "काव्य के अन्तर्गत ऐन्द्रिय सह-संबंधी कहलाने वाली वस्तुएं भाव को उसी प्रकार व्यंजित करती हैं, जिस प्रकार ध्वनि के सहारे शब्द-अर्थ को व्यंजित करते हैं। श्री रायन ने आधुनिक शब्दावली में काव्यगत वस्तु को भाव का "व्यंजक सहधर्मी' कहा है।[१५]

इलियट के कुछ समीक्षकों के अनुसार इस प्रकार की विचार-धारा का प्रतिपादन इलियट से पूर्व अन्य कई आलोचक कर चुके थे। उदाहरण के लिए प्रोफेसर मेरियो प्राज ने इस सिद्धान्त का स्रोत एजरा पाउण्ड के प्रस्तुत कथन में स्वीकार किया है : "कविता एक प्रकार का प्रतिभ गणित है, जो हमें समीकरण प्रदान करता है—अमूर्त आकारों, त्रिकोणों, वृत्तों आदि के समीकरण नहीं, बल्कि मानव-संवेगों के समीकरण।[१६] कुछ विद्वानो ने इलियट के व्यक्त मत का मूल फ्रांसीसी प्रतीकवादियों के काव्य-विषयक विवेचनों में खोजने की चेष्टा की है। प्रतीकवादियों की मान्यता है कि कविता भावों को प्रत्यक्ष रूप में अभिव्यक्त नहीं कर सकती, भाव केवल उद्बुद्ध किये जा सकते हैं। वस्तुस्थिति चाहे जो हो, इलियट के वस्तुगत सहसंबंधी' के सिद्धान्त की अनेक दृष्टियों से आलोचना की गयी है। एक तो यह कहा गया है कि इलियट ने प्रस्तुत सिद्धान्त का प्रतिपादन यद्यपि काव्य की वैयक्तिकता एव भावावेगमयता के प्रति विरोध भाव व्यक्त करते हुए किया था और उसे वस्तुनिष्ठ रूप प्रदान करना चाहा था, तथापि उक्त सिद्धान्त अप्रत्यक्ष रूप में भावाभिव्यक्ति पर ही बल देता है। कुल मिलाकर यह सिद्धान्त भाव को ही काव्य का आधारभूत तत्व स्वीकार करता है।[१७]

इलियट और उनके प्रस्तुत सिद्धान्त पर यह आक्षेप लगाया जाना कदाचित् सगत नहीं है, क्योंकि उन्होंने काव्य में भावाभिव्यक्ति मात्र का निषेध नहीं किया है; उन्होंने एक ओर तो काव्य में वैयक्तिक भावों की अभिव्यक्ति का निषेध किया है और दूसरी ओर रोमानी काव्य जैसी अतिशय भावावेगमयता का। प्रस्तुत सिद्धान्त के प्रतिपादन से वे बहुत कुछ अपने उद्देश्य की सिद्धि में सफल हुए हैं, क्योंकि वस्तुगत सह-सम्बन्धो के माध्यम से अभिव्यक्त काव्योपमभाव भी वस्तुनिष्ठ स्वरूप प्राप्त कर लेता है, इस अर्थ मे कि वह किसी में न रहता हुआ भी सर्वजन सम्बन्ध बन जाता है।

कुछ अन्य विचारकों ने 'हैमलेट एण्ड हिज़ प्रॉब्लम्स' में इलियट के उक्त वक्तव्य मे प्रयुक्त 'संवेग' शब्द पर आपत्ति की है, और इलियट पर आक्षेप करते हुए कहा है कि 'जिस भाषा में इलियट ने उपर्युक्त संदर्भ में भावाव्यंजना की वस्तुनिष्ठता का निरूपण किया है, वह अभिव्यंजनावादी भावात्मकता का आभास देती है, साथ ही......वह इतनी तर्कशिथिल है कि उसमें वस्तुनिष्ठता की अभीष्ट प्रतिष्ठा नहीं हो पाती।[१८] इस संदर्भ में विलियम विमसैट ने इलियट के उक्त कथन के स्थान पर उनके एक अन्य कथन को वस्तुगत सह सम्बन्धी के सिद्धान्त का अपेक्षाकृत अधिक संतोषजनक रूप माना है। इलियट का वह कथन इस प्रकार है : 'वे अपने सर्वोत्तम रूप में मन की स्थितियों और अनुभूतियों के लिए शाब्दिक पर्याय खोजने के प्रयास में संलग्न थे।[१९] विमसैट के अनुसार प्रस्तुत कथन में 'संवेग' के स्थान पर 'मन की स्थितियों और अनुभूति' पद का प्रयोग अधिक परिष्कृत एव संतोषप्रद है श्रीकृष्ण

रायन ने इलियट के प्रस्तुत कथन पर एक अन्य दृष्टि से आक्षेप किया है, यद्यपि यह आक्षेप अप्रत्यक्ष है। उन्होंने प्रश्न उठाया है कि वह वास्तविक प्रक्रिया क्या है, जिसके द्वारा लौकिक पदार्थ आस्वाद्य पदार्थों में परिणत हो जाते हैं ? और इसका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा है कि संस्कृत और पाश्चात्य काव्यशास्त्र में इसका उत्तर एकसा ही है 'साधारणीकरण'। परन्तु इलियट की अपनी स्वयं की रचनाओं में उनके निजी बिम्ब किस प्रकार एक सामान्य अर्थवत्ता से युक्त वस्तुगत सह सम्बन्धी हो जाते हैं, इलियट के समीक्षक इसके स्पष्टीकरण में असमर्थ रहे हैं।[२०] श्री रायन के प्रस्तुत वक्तव्य को इलियट के उक्त सिद्धान्त पर अप्रत्यक्ष आरोप माना जा सकता है। उन्होंने आगे कहा है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में साधारणीकरण सिद्धान्त की व्याख्या के अन्तर्गत सामग्री के साधारणीकरण का विधान नहीं है, अपितु उसे एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में निरूपित किया गया है, जो वस्तुतः सहृदय-हृदय में घटित होती है। अभिनव के अनुसार साधारणीकरण शैली, आलंकारिक अभिव्यक्ति और लय के द्वारा, तथा संगीत, गान और नृत्य के द्वारा सम्भव होता है; ये सब कवि की सामग्री को प्रभावित नहीं करते अपितु ग्राहक के मन को प्रभावित करते हुए उसे लौकिक जगत् से ऊपर उठाकर सौन्दर्य-लोक में समासीन कर देते हैं, जहाँ लौकिक, निजी और विशिष्ट का कोई स्थान नहीं रहता। इसमे कोई संदेह नहीं कि साधारणीकरण की प्रक्रिया का जितना सूक्ष्म, विशद और सांगोपाग विवेचन संस्कृत काव्यशास्त्र में हुआ है, उतना अन्यत्र कहीं भी नहीं हुआ; और इलियट ने तो कोई सुव्यवस्थित आलोचना ग्रन्थ लिखा भी नहीं है, इसलिए उनके फुटकर आलोचनात्मक निबन्धों में साधारणीकरण अथवा 'यूनिवर्सलाइजेशन' का उतना सूक्ष्म और विशद विवेचन ढूंढ़ना कदाचित् संगत न होगा और इतना निश्चित ही है कि इलियट ने इस सम्बन्ध मे उस मूलभूत तथ्य का संकेत किया ही है जिसकी ओर श्री रायन ने ध्यान आकृष्ट किया है। और उनका निर्वैयक्तिकता सिद्धान्त कवि और ग्राहक दोनों पक्षों पर समान रूप से लागू किया जा सकता है, यह ऊपर बताया जा चुका है।

यहाँ तक तो इलियट के सिद्धान्त-विवेचन में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। पर इसके आगे, जहाँ वे परस्पर विरोधी कथन कहते हैं, वहाँ से कठिनाई की शुरूआत होती है। इलियट का सृजन-प्रक्रिया विषयक विवेचन समग्र सृजन-प्रक्रिया को दो स्पष्ट भागो में बाँट देता है। एक तो यह है कि कवि पहले अपने मन में किसी विशिष्ट भाव का भावन और अनुभूति की अभिव्यक्ति का निश्चय करता है, और दूसरा यह कि इस निश्चय के अनन्तर वह उसकी सम्यक् अभिव्यक्ति के लिए समुचित 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव्स' ढूंढ़ता है। इस सम्बन्ध में इलियट का कथन है 'कवि का मन वास्तव में एक ऐसा ग्रहण-यंत्र है, जो उन सभी अगणित अनुभूतियों, वाक्यांशों तथा बिम्बों को ग्रहण करता है और जमा करता है जो वहाँ पर तब तक पड़े रहते है जब तक 'नवमिश्रित' वस्तु को रूप प्रदान करने के लिए सभी तत्व एक साथ उपस्थित नहीं हो जाते।[२१] इलियट के सुप्रसिद्ध समीक्षक इलीसियो वाइवस ने इलियट के प्रस्तुत मत पर आपत्ति करते हुए कहा है : Feelings stored up in the poet's mind which is in fact a storage receptacle, words for which feelings wait in order to attach ves at the of composition, the pre-established

harmony that must be assumed to exist between the waiting feeling and its verbal garment ; the very assumption that a feeling can exist by itself in the mind and wait without symbolic expression of any kind—all this is very dubious.[२२]

इलीसियो वाइवस की यह आपत्ति बहुत ही उचित है। इलियट के निम्नलिखित कथनों के साथ उनके उक्त कथन को रखकर विचारने पर यह आपत्ति और भी प्रखर हो उठती है—

[क] "कवि तब यह नहीं जानता कि उसे क्या कहना है, जब तक कि उसने कह नहीं लिया है।"[२३]

[ख] "We do not know until the shell breaks what kind of egg is laying under it.।"[२४]

यहाँ इलियट यह भी कहना चाहते हैं कि जब तक कविता कागज पर शब्दमूर्त्त नहीं हो जाती तब तक इसके स्वरूप, उसके वर्ण्य के विषय में प्रामाणिक रूप से कुछ कहना कठिन है। इलियट के उक्त दोनों कथन परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं और इनमें संगति बैठाना कठिन है। यदि कविता के शब्दमूर्त्त होने के पूर्व इलियट के कवि को वर्ण्य की प्रकृति का कोई भान नहीं रहता तो वह वस्तुगत सह संबंधियों की योजना किस आधार पर करता है? काव्य के स्तर पर इलियट ने 'व्यवस्था' अथवा 'order' की आवश्यकता बताई है, पर ऐसी स्थिति में भावों की शब्दगत 'व्यवस्था' की संभावना तो तभी है, जबकि भावों का, अनुभूतियों का, ठीक स्वरूप ज्ञात हो। 'मेटाफिजिकल कवियों पर विचार करते समय इलियट ने व उनके वर्बलइक्वीवेलेंट ढूँढ़ने और अत्यधिक व्यस्तता के साथ ढूँढ़ने का उल्लेख किया है। अर्थात् इलियट के अनुसार ऐसा नहीं है कि कवि-मानस में भावोदय के साथ ही उसके वस्तुगत सह-संबन्धी का उदय हो जाता हो, कवि को उसे या उन्हें व्यस्ततापूर्वक ढूँढ़ना पड़ता है। पर भाव की प्रकृति, उसके स्वरूप के स्पष्ट अवबोध के अभाव में वह किसके लिए किस आधार पर और किस प्रकार वस्तुगत सह संबन्धी ढूँढ़ता है? और शब्दमूर्त होने के पूर्व भाव बिना किसी प्रतीक के आश्रय के किसी रूप में कवि-मानस में एकत्र रहते है? इसके अतिरिक्त इलियट ने कहीं यह भी स्पष्ट नहीं किया कि कविता भावों को उद्बुद्ध करती है या अभिव्यक्त करती है? यदि वह भावों को अभिव्यक्त करती है तो प्रश्न है कि वस्तुगत सह-संबन्धी इसमें किस प्रकार समर्थ हो पाते हैं?—चेतन भाव को वे कैसे अभिव्यक्त कर सकते है? और यदि कविता भावों को उद्बुद्ध करती है तो यह इलियट के स्वयं के निर्वैयक्तिकता सिद्धान्त के विपरीत है, क्योंकि वह तो काव्य में प्रत्येक प्रकार के व्यक्तिगत भाव के निषेध को स्वीकार करता है। वैसे, इसका समाधान कदाचित् यह कह कर किया जा सकता है कि इलियट अन्य किसी उपयुक्त शब्दावली के अभाव में 'रस' रूप भाव को ही भाव कह रहे हैं, भावोद्बुद्धि से उनका तात्पर्य लौकिक, विशिष्ट भावों से नहीं है, क्योंकि काव्य के आस्वादन को वे 'विशिष्ट' स्वीकार करते हैं। परन्तु अन्य शंकाओं का समाधान इलियट के काव्य विषयक विवेचन से नहीं हो पाता।

भारतीय साधारणीकरण सिद्धान्त में इस प्रकार की कोई संदिग्ध स्थिति नहीं है वहाँ सहृदय के चित्त में वस्तु और भाव के उदय का प्राय एक साथ ही होना स्वीका

किया गया है, और यह साधारणीकरण सिद्धान्त के अन्तर्गत वस्तुतत्व और आत्मतत्व के अभेद, उनके सह-अस्तित्व के प्रतिपादन, का स्पष्ट प्रमाण है। बाल्मीकि के श्लोक के प्रसंग में रचना-प्रक्रिया की चर्चा से यह स्पष्ट है कि कवि-मानस में भी वस्तु और भाव का उदय प्रायः एक साथ ही होता है। रस को 'झटिति प्रत्यय' कहा गया गया है । आस्वादन-प्रक्रिया के विवेचन में यह बताया गया है कि मुख्यार्थ से व्यंग्यार्थ का बोध असंलक्ष्यक्रमरीति से तुरन्त घटित होता है। वाच्य-वाचक रचना प्रपंच से चारु काव्य के पारायण से सहृदय के व्यक्तिगत रागद्वेष तिरोहित होने लगते हैं, जिसके फलस्वरूप उसके हृदय में उद्बुद्ध स्थायी रस रूप में आस्वाद्य होता है। इलियट काव्यास्वाद में सहृदय को द्रवित करने की क्षमता स्वीकार करते हैं। अपने एक प्रसिद्ध निबन्ध 'द म्यूजिक आफ पाइट्री' में उन्होंने लिखा है : If we are moved by a poem, it has meant Something, perhaps something important to us; if we are not moved then, it is, as poetry meaningless." संस्कृत काव्यशास्त्र भी रसास्वाद में सहृदय को द्रवित करने की सामर्थ्य मानता है, यह रसास्वाद का एक विशेष गुण है। कुल मिलाकर यह कहा जाता है कि इलियट का काव्यविवेचन अनेक रूपों में भारतीय साधारणीकरण सिद्धान्त के अत्यन्त निकट है और इलियट काव्यास्वाद की समस्या को अपने ढंग से हल करने में बहुत दूर तक सफल भी हैं, तथापि साधारणीकरण सिद्धान्त जैसी सर्वांग-सम्पूर्णता, संगति एवं क्रमबद्धता उनके विवेचन में नहीं मिलती।

सन्दर्भ संकेत

(१) सैक्रेड वुड, पृ० १४-१५ (२) सेलेक्टेड एसेज पृ० २४ (३) सेलेक्टेड एसेज, पृ० १२४-२५ (४) ट्रेडीशन एंड दि इंडिविजुअल टैलेंट (५) सैक्रेड वुड (६) वही (७) सैक्रेड वुड (८) ला सपैण्ट की भूमिका (९) सैक्रेड वुड (१०) समीक्षालोक, भगीरथ दीक्षित, पृ० ५७२ पर उद्धृत (११) रस-सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र पृ० २०६-२०७ (१२) एक ओर वास्तविक जीवन सदैव विषय सामग्री है और दूसरी ओर वास्तविक जीवन से अपसरण कलाकृति के सृजन के लिए आवश्यक शर्त है।" सेलेक्टेड एसेज, पृ० १११ (१३) आर्ट एक्सपीरिएंस : एम० हिरियाना (१४) सेलेक्टेड एसेज।पृ० १२४-२५ (१५) ब्रिटिश जर्नल आफ एस्थेटिक्स जुलाई ६९, पृ० ३५०-५१ (१६) दि स्पिरिट आफ रोमान्स, पृ० ५ (१७) "In this Eliot accepts inspite of his avowed classicism that "the artist is primarily concerned with emotion." क्रियेशन एण्ड डिस्कवरी : इलीसियो वाइवस पृ० २४८ (१८) रस सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र, निर्मला जैन, पृ० ३२६ (१९) "The metaphysical poets, were, at best engaged in the task of trying to find the verbal equivalent for states of mind and feeling." सेलेक्टेड एसेज पृ० २४८ (२०) ब्रिटिश जर्नल आफ एस्थेटिक्स, जुलाई, ६९, पृ० ३५०-५१ (२१) "The poet's mind is in fact a receptacle for seizing and storing up numberless feelings, phrases, images, which remain there until all the particles which can unite to form a new compound are present together" —परम्परा और वैयक्तिक प्रतिभा (२२) क्रिएशन एंड डिस्कवरी, पृ० १७६ (२३) दि थी वायसेस आफ पोइट्री (२४) परम्परा और वैयक्तिक प्रतिभा।

ब्रज का लोकोत्सव : फूलडोल

●

श्रीराम शर्मा

किसी जाति के सांस्कृतिक कार्यक्रमों, उत्सवों व मेलों से उसकी समृद्धि की पहचान की जा सकती है। हिन्दू संस्कृति में त्योहारों, पर्वों में व उत्सवों की धूम मची रहती है। जैसी ऋतु आई, उसी के अनुकूल हमारे पूर्वजों ने कोई न कोई पर्व या उत्सव तैयार कर लिया। यद्यपि हमारे धार्मिक जीवन की आधार-शिला संस्कार, पर्व, त्योहार व उत्सवों पर रखी गई, उस पर ब्रज प्रदेश नटवर कृष्ण की रंगस्थली होने के कारण इस दिशा में सभी जनपदों का अग्रणी रहा है। यहाँ का प्रत्येक दिन एवं रात लोकोत्सव, लोकसंगीत व लोकनृत्य के कार्यक्रमों से लबालब भरा रहता है। प्रत्येक ऋतु में अनेक त्योहारो, पर्व व उत्सवों का यहाँ आयोजन किया जाता है। बसंत पंचमी से बसन्त ऋतु का रंगीन वातावरण जनजीवन में मस्ती की लहर दौड़ाता है। इस दिन पीले-पीले रंग के सरसों के रंग फूलों में जनमानस इतना डूब जाता है कि समस्त वस्त्र या कम से कम टोपी वसंती रंग से कर बसंत के महान् प्रभाव का लोहा मानकर उस रंग में लीन हो जाता है। लोकगीतों व लोकनृत्य का तो बसंत पंचमी का यह दिन एक ज्वार लाता है। प्रत्येक ग्राम एव घर में ढफ एवं ढोल पर जानपदीय जन झूमते हुए गाते दृष्टिगोचर होते हैं। इस ऋतु के विशिष्ट लोकगीत हैं—साखी, होरी (रसिया) एवं जिकड़ी भजन। साखी एक मार्ग गीत है। जब युवक मंडल प्रस्थान करता है तो मार्ग में अत्यन्त ऊँचे स्वर में सामूहिक रूप से यह गीत गाया जाता है। इन साखियों का विषय प्रायः प्रेम व शृंगार रहता है। होरी तो ब्रज का प्राण ही है। राधाकृष्ण द्वारा खेली हुई होली के अनेक रूपचित्र होरियों तथा होली के रसियों में मिलते हैं। इन सब गीतों में जिकड़ी भजन नामक लोकगीत अपना विशिष्ट महत्व रखता है। इस गीत का प्रचलन लगभग १३० वर्ष पूर्व ही प्रारम्भ हुआ किन्तु बीसवीं दशाब्दी की चतुर्थी शताब्दी तक इसका उत्कर्ष काल रहा। इस समय इन लोकगीतों का प्रचलन, आगरा मथुरा, बुलन्दशहर एटा तथा अलीगढ़ आदि जिले में बड़ी शीघ्रता से फैला। इसके शीघ्र प्रसार व विकास से ही इनकी का पता

चलता है। ये जिकड़ी भजन इस प्रदेश में फाल्गुन एवं चैत्र के पूरे महीने रात-रात भर गाये जाते हैं।

ब्रज के 'फूलडोल' नामक लोकोत्सव में भी यही 'जिकड़ी भजन' नामक लोकगीत गाये जाते हैं। इन गीतों के आदि आविष्कर्ता हरनाम व हरफूल, शोभाराम व गंत्रका माने जाते है। इन गीतों का शिल्प-विधान भी विशिष्ट प्रकार का रहता है। 'फूलडोल' नामक लोकोत्सव का मुख्य तत्व ये ही जिकड़ी भजन होते हैं। इन गीतों को गाने वाले रात भर आपस में शास्त्रार्थ तथा पांडित्य प्रदर्शन करते हैं।

फूलडोल का समय—फूलडोलों का प्रारंभ वैसे तो वसंत पंचमी से ही हो जाता है किन्तु विशेषतया होली के जलाये जाने के तुरन्त पश्चात् चैत्र कृष्ण १ से प्रारम्भ होता है। फूलडोल के उत्सव इस समय से प्रारम्भ होकर वैसाख कृष्ण ३० तक आयोजित किये जाते हैं।

आयोजन का स्वरूप—फूलडोल का आयोजन जिस ग्राम में किया जाता है उस गाँव से निमंत्रणपत्र ('दल') भेजे जाते हैं। लोकगायकों की मंडलियों के अध्यक्ष को ये 'दल' भेजे जाते हैं। इस आयोजन के दो रूप होते हैं—पहला शारीरिक प्रदर्शनों का आयोजन, दूसरा, रात्रि का जिकड़ी भजनकारों का कवि-सम्मेलन व शास्त्रार्थ आयोजन। जिस दिन फूलडोल का आयोजन निश्चित किया जाता है उस दिन क्षेत्र के प्रसिद्ध प्रसिद्ध पहलवान, घोड़े, बैलों की जोटें इकट्ठी की जाती हैं। पहला कार्यक्रम मनुष्य के शारीरिक प्रदर्शनों का रहता है, जिसके अन्तर्गत क्षेत्र के बड़े हृष्ट पुष्ट शरीर वाले मनुष्य निम्नांकित शारीरिक प्रदर्शन प्रस्तुत करते हैं—

(१) नाल उठाना—'नाल' पत्थर या कंकड़ का एक भारी वजन का पिंड होता है, जिसमें बीच में एक छेद करके एक हाथ से पकड़ने के लिए हत्था बना दिया जाता है। बीच भाग हाथ से पकड़ने वाला गोल दंडाकार कर दिया जाता है।

ये नाल अलग-अलग भार के होते हैं। कुछ नाल ६ घड़ी (एक घड़ी ५ सेर होता है) के होते हैं, कुछ ८ घड़ी और कुछ १०-१२ घड़ी तक होते हैं। सीधे दंड रूप भाग को एक (सीधे) हाथ से पकड़ कर धीरे-धीरे वृक्षस्थल के आगे से उठाकर ऊपर की ओर हाथ खड़ा करके नाल के ऊपर उठा दिया जाता है। इस नाल को ऊपर उठाने की क्रिया को "मालो" कहा जाता है। बड़े-बड़े पहलवान कई-कई 'माले' लगाते हैं। इस शारीरिक प्रदर्शन में सर्वश्रेष्ठ वही मनुष्य ठहराया जाता है व्यक्ति जो अधिक से अधिक वजन के नाल के अधिक के अधिक 'माले' लगाता है।

(२) मुग्दर फिराना—दूसरा शारीरिक प्रदर्शन मुग्दर फिराने का होता है। यह मुग्दर लकड़ी के एक बड़े लट्ठे में से बनाया जाता है। ऊपर का भाग कुछ पतला रहता है। इसे हाथ से पकड़ कर घुमाया जाता है। इस मुग्दर को दोनों हाथों में पकड़ कर 'बनैती' (लाठी घुमाने का या तलवार घुमाने का खेल) घुमाया जाता है। ये मुग्दरों की जोड़ी भी नालों की तरह अलग-अलग भार की रहती है। ६-८ घड़ी से १४-१६ घड़ी तक रहती हैं। जो व्यक्ति अधिक से अधिक भार के मुग्दरों को घुमाता है वह सर्वश्रेष्ठ घोषित कर दिया जाता है।

उपयुक्त प्रदर्शनों के अतिरिक्त दौड़ ठेका या पैंता (लम्बीकूद) तथा कबड्डी आदि खेल भी आयोजित किये जाते हैं।

इन शारीरिक प्रदर्शनों के बाद घोड़ी, घोड़ों की दौड़ का कार्यक्रम प्रारम्भ किया जाता है। एक जनमार्ग पर घोड़ी व घोड़े दौड़ाये जाते हैं, उनमें जो प्रथम आता है उसे पुरस्कार भी दिये जाते हैं।

एक अन्य दौड़ बैलों की जोड़ियों की होती है। किसी जन-वाहन - फिरक या तांगा, रहलू या रब्बा में बैलों की जोट जोती जाती है और दौड़ प्रारम्भ की जाती है। जो वाहन सबसे आगे चला जाता है वही जोट सर्वप्रथम घोषित कर दी जाती है। इस प्रकार दिन का कार्यक्रम समाप्त हो जाता है। दिन में इस फूलडोल के मेले में दूकानदार दुकानें लगाकर मिठाइयाँ आदि भी बेचते हैं। कहीं-कहीं यह दिन का कार्यक्रम तीन-तीन दिनों तक चलता है। अलीगढ़ जनपद में पालीरजापुर तथा लगसमा का प्रसिद्ध फूलडोल भामल में जुड़ता है, जिनमें हजारों पुरुष, बैलों की जोटें तथा घोड़े घोड़ी भाग लेते है।

रात्रि का सांस्कृतिक कार्यक्रम जिकड़ी भजनों का रहता है। आसपास के क्षेत्रो की गायक मंडलियाँ एकत्र होती हैं। एक सभापति चुन दिया जाता है और १०-१०,५-५ मिनट तक एक-एक मंडली अपना जिकड़ी भजन गाती है। गायन समाप्त होने पर एक जिकड़ीकार एक प्रश्न करता है, जिसका उत्तर सभी गायक (जिन्हें रसिया कहा जाता है) देने का प्रयत्न करते हैं। ये भजन प्राय: पुराणों से होते हैं। उनमें कही गई कथा के किसी राजा, रानी, नगर, नदी, बन, पर्वत आदि का नाम या सम्बन्ध पूछे जाते हैं।

इसके अतिरिक्त एक विशिष्ट कार्य होता है काव्यशास्त्र सम्बन्धी शास्त्रार्थ का; जिसे 'पिंगल' कहा जाता है। जिन जिन लोक कवियों की यह घोषणा होती है कि उन्होंने जिकडी भजन पिंगल से निर्माण किया है, उनसे अन्य लोककवि काव्यशास्त्र विषयक प्रश्न करते हैं। कुछ प्रश्न उस लोकगायक के धार्मिक ज्ञान की परख से सम्बन्धित भी होते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि हमारी प्राचीन शास्त्रार्थ की पद्धति के साक्षात दर्शन हमें इन फूलडोलो मे हो जाते हैं; जबकि दो जिकड़ीकारों में प्रश्नोत्तरों का क्रम चलता है। इन भजनों में प्रश्न करना अनिवार्य प्राय: ही होता है, जैसा कि एक भजन की एक पंति ''भजन प्रश्न बिन होइ न पूरो'' या ''अबकी टेक प्रश्न की जानो'' में भजन के अंत में चौथी आड़ में प्रश्न ही रखा जाता है; जिसके उत्तर की अपेक्षा की जाती है। यदि कोई लोकगायक एक गायक के प्रश्न का उत्तर दे देता है तो उत्तर दिया गया भजन कटा हुआ समझा जाता है। प्रश्न के उत्तर देने की यह क्रिया ''भजन काटना'' कहलाती है।

फूलडोलों का प्रचलन समय—यह एक समस्या है कि इन फूलडोलों के आयोजन का प्रारम्भ कब से हुआ। यदि यह माना जाय कि जिकड़ी भजनों के गाये जाने के कारण ही इन आयोजनों को फूलडोल कहा जाने लगा या जबसे जिकड़ी भजनों का आविष्कार किया गया तभी से फूलडोलों का प्रचलन हुआ होगा, तब यह यह विचारणीय होगा कि क्या १३० वर्ष जबसे जिकड़ी भजनों का प्रचलन प्रारम्भ हुआ तभी फूलडोलों का भी आयोजन होता था ? यदि हाँ तो किस रूप में होता होगा ? हमारी तथागुण वाली

नीति से इसका क्या अर्थ होगा ? ये ऐसी समस्याएँ हैं जिन पर विचार किया जाना चाहिये।

फूलडोलों का प्रचलन कब से प्रारंभ हुआ यह कहना तो एकदम कठिन है तथापि साहित्य के अन्त:साक्ष्य एवं बहि:साक्ष्य दोनों के आधार पर इसकी परम्परा को खोजने का प्रयास आपके सम्मुख है—

(१) बहि:साक्ष्य— 'फूलडोल' शब्द का जहाँ तक सम्बन्ध है, इसका प्रचलन संभवत: अपभ्रंश काल के बाद ही हुआ होगा, क्योंकि यह एक अपभ्रंश शब्द ही है, इसमें दो मत नहीं हो सकते। इस प्रकार के आयोजन ब्रज प्रदेश में सन् १८७४ ई० में बहुलता के साथ प्रचलित थे। इसका प्रभाव "मथुरा डिस्ट्रिक्ट मैमोयर"[१] से चलता है। वहाँ इस उत्सव को फूल और गायन का एक उत्सव कहा गया है।[२]

बाह्यसाक्ष्य में एक अन्य प्रमाण १८८८ ई० का प्राप्त हुआ है। अलीगढ़ के गण्यमान वकील श्री तोताराम वर्मा सी० आई० ई० ने 'ब्रजविनोद' नामक एक पुस्तक भारतबंधु प्रेस, अलीगढ़ से प्रकाशित कराई थी। उक्त पुस्तक में मथुरा जिले के अनेक उपनगरों एवं ग्रामों मे 'फूलडोल' का मेला लगना वर्णित है। यह बात भी निश्चित है कि श्री वर्मा ने ब्रज यात्रा १०-१२ वर्ष पूर्व ही की होगी, क्योंकि एक बार यात्रा करने पर इतना विशद् वर्णन वे न लिख पाते। अत: दो-चार बार यात्रा करने के उपरान्त ही लिखने का विचार करना तथा प्रकाशन कराना संभव हुआ होगा। इन प्रमाणों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि १८वीं शताब्दी की चौथी, पाँचवीं दशाब्दी में इन जनपदों में फूलडोलों का प्रचलन पर्याप्त जोरों पर था।

(२) अन्त:साक्ष्य—वर्तमान समय में फूलडोल को कहीं-कहीं 'डोलफूल' या 'डोल' मात्र कहकर पुकारा जाता है। यदि इससे हम यह संभावना कर लें कि ब्रज का 'डोल' नामक उत्सव ही आगे चलकर 'फूलडोल' कहलाया जाने लगा हो तो 'डोल' उत्सव के मनाये जाने के अनेक प्रमाण हमें अष्टछाप के कवियों के काव्य में ही मिल जाते हैं। अष्टछापी काव्य मे 'डोल' एक बसन्तोत्सव बताया गया है जिसके अवसर पर कृष्ण झूला करते थे।[3]

इसके साथ 'जिकड़ी भजन' के आदि रूप 'इकबोला' से भी प्रचलन-समय का निष्कर्ष निकाला जा सकता है। इसके प्रमाण से यह पता चलता है कि सन् १८५७ ई० के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम काल में 'जिकड़ी भजनों' का प्रचलन हो चुका था। और ये 'जिकड़ी भजन' ही 'फूलडोलों' में गाये जाते हैं। ये इकबोले ("हड़िया में रांध्यो परिया में खायो, चलि मेरी सौति अमानी आयो' तथा दूसरा 'महुओ मारि बीठना मार्यो कोल के लगि गये तारे, स्याबास गइलऊ बारे")[४] जब १८५७ के संग्राम के समय गाये जाते थे तो यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जब 'फूलडोल' भी प्रचलित थे।

उत्थान एवं पतन—इन फूलडोलों के उत्थान काल में ग्रामीण जन रात-रात भर गायन में तथा पांडित्य प्रदर्शन में व्यतीत कर देते थे। यहाँ तक कि यदि शास्त्रार्थ में वाद-विवाद लम्बा हो जाता तब लगातार फूलडोल चलता और जिकड़ी भजनों के रचयिता—खिकड़ीकारों के दो-दा दिन रात शास्त्रार्थ में समाप्त हो जाते थे इन जिकड़ी भजनों की का पता इसी बात से चल जाता है कि अत्यन्त अल्प समय में इसका प्रचलन

आगरा, मथुरा, एटा, बुलन्दशहर, गुड़गाँवा, अलीगढ़ जिलों में अत्यन्त तेजी से प्रार
गया। इस प्रकार के भजनों के रचयिताओं—जिन्हें 'रसिया' भी कहा जाता है, की
गोष्ठियों (फूलडोल) का प्रचलन अत्यन्त उत्कृष्ट रूप में हुआ।

अब लगभग २० वर्ष से इनका पतन प्रारम्भ हो गया। इन फूलडोलों में जब द
कवियों में शास्त्रार्थ होता तो उनमें दुराग्रह बढ़ने लगा और न्यायाधीश या सभापति आ
मंडली या जनकवि के साथ पक्षपातपूर्ण निर्णय देने लगे। कई बार क्षेत्रीय जातीय,
पक्षपात के कारण अच्छे जनकवियो में असंतोष व्यापने लगा और उसका प्रभाव बुरा पड़ा
बार तो शास्त्रार्थ करते समय दुराग्रह एवं मूढ़तापूर्ण व्यवहार से आपस में लाठियाँ भी
लगी। इन सब दोषों के कारण इनका प्रचलन बहुत कम हुआ और अब तो प्रायः
बराबर इनका प्रचलन शेष रह गया है। एक बार के फूलडोल में लाठी चलाये जाने
जनकवियों में ईर्ष्या का उग्ररूप उदय होने का उदाहरण एक जिकड़ी भजन में दिया गय

होतीलाल रहॅत कारिन्दा गुजरातिन को गांव है।
दियौ डोल में जोरु।
इतने रसिया जा सरसा, में सबन कूं डारूंगो दबाय॥
लिखि सर खत तौ जानें गांम फरौलो भेज दयौ॥
कछु ज्ञान गुनी मन भाकौ॥ टेक॥
पहले खबरि फरौली आई, बाजगढ़ो फिरि आई यै॥
अब कोई जाउ सिकंदरपुर कूं, ठनि रही आजु लड़ाई यै॥
(सो) सात बजे पै सबु जुरि आये, चकरा भरै तड़ाकौ॥१॥
डोल कौ हालु सुनौ सबु भाई॥
रघुनंदन पंडित जी आये बांधे धोती पोथी जी।
पीछें रखी न्हैंचिया नारें, आजु भगवती लोटी जी॥
(सो) औंधो म्हों करि जाइ परे, ऊपर भयौ धड़ाकौ॥२॥
ढीम मारु बाजी आपुस में।
ताक पकरि के बाला रोवै, दीखतु भइ अंधियारो है।
ढोरैं पै ते कहें बोहरे, जिय कहा बादरु फार्यौ है।
(सो) जो कछु हालु भयौ चौदह में, आजु रखै मोइ जाकौ॥[3]

(लेखक के निजी सग्र

[स]दर्भ-संकेत

(१) मथुरा डिस्ट्रिक्ट मैमोयर, ग्राउज, १८७४ सं० ४३६-४४०
(२) वही, पृ० १७०
(३) सूरसागर २६१६, परमानन्द सागर ६२५ और कुंदनदास ८
(४) लेखक के निजी सग्रह से।

सांस्कृतिक प्रक्रिया

•

डॉ० रघुवंश

इतिहास-चिन्तन की परम्परा पर दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृति के सम्बन्ध में मानवीय दृष्टि का विकास इसकी अन्तर्धारा के रूप में हुआ है। मनुष्य अपने इतिहास के बारे में जिस सीमा तक सचेत हुआ, उस सीमा तक उसने किसी न किसी रूप मे अपनी मानवीय स्थिति और जीवन परम्परा का मूल्यांकन किया है। प्रारम्भ में मनुष्य प्रकृति के साथ अभिन्न था और उस स्थिति में न उसको अपने अस्तित्व का सही बोध था और न अपने जीवन-क्रम की कोई धारणा उसके मन में रही होगी। क्रमशः प्रकृति शक्तियों का दैवीकरण हुआ, इस रूप में प्रकृति को अपने से अलग मान कर भी मनुष्य ने अपने जीवन में देवताओं की पूरी छाया पाई। उनके निरन्तन सम्पर्क तथा सहयोग से मानवीय जीवन-क्रम परिचालित है, ऐसा माना गया। मानवीय जीवन के इस स्तर पर मानव और देवता का एकीकरण दैवी आदर्शों के रूप में स्वीकार किया गया। क्रमशः केन्द्रीय देवता की कल्पना एक ईश्वर के रूप में व्यक्त हुई, धार्मिक भाव को आधार मिला। दैवी अनुशासन ईश्वरीय विधान तथा इच्छा के रूप में स्वीकृत हुआ। न्याय-विधान करने वाला और दण्ड-पुरस्कार देने वाला ईश्वर मानव-जीवन का अधिनायक हो गया और मानव-इतिहास अन्ततः उसकी महान् योजना के रूप में माना गया। यह मानवीय मूल्य-बोध का प्रारम्भिक स्तर माना जा सकता है और इसे सांस्कृतिक संचरण का पहला चरण भी मान सकते हैं। आगे चल कर धार्मिक चेतना का यह रूप सामाजिक व्यवस्था के साथ व्यापक धर्म-संघटनों में परिलक्षित होता है।

प्रकृति से अपने अलगाव के अनुभव के साथ मनुष्य की सामाजिक चेतना का विकास हुआ। प्रकृति के समानान्तर अपने सामाजिक जीवन की एकता और स्थायित्व को बनाये रखने की भावना से मनुष्य प्रेरित हुआ। ऊपर जिस धर्म-चेतना का उल्लेख किया गया है, उसने इस भावना के आधार पर धर्म-संघटनों को जन्म दिया और संघों की स्थापना हुई। इन संघो मे बन्धुत्व, बराबरी, स्नेह-सम्बन्ध, सहयोग जैसे मानवीय मूल्यों का विकास हुआ। दूसरी ओर इस भावना से मुक्त चिन्तन ने मानव-जीवन की गति में सामाजिक भाव-बोध को आत्मसात् कर नैतिक मुल्यो को किया सामाजिक के रूप में मानव-इतिहास को

स्वीकार करने वाली दृष्टि किन्हीं नैतिक मूल्यों का आधार ग्रहण करती है। परन्तु जिन समाजों ने धर्म-भावना को आध्यात्मिक साधना के रूप में विकसित किया है, उनके नैतिक मूल्य भी आध्यात्मिक मूल्य-बोध के उपकरण या साधन बन जाते हैं।

मनुष्य समाज की चेतना के साथ अपने व्यक्तित्व का बोध भी करता है। वैयक्तिकता की चेतना के साथ मनुष्य एक ओर अपने आप को बौद्धिक प्राणी के रूप में व्यक्तित्ववान अनुभव करता है, दूसरी ओर बाह्य प्रकृति को भौतिक घटनाक्रम के रूप में समझता है। इस घटना-क्रम के पर्यवेक्षण से उसमें एकता और अक्षुण्णता के एक गतिमान सूत्र का पता चलता है। प्रकृति की क्रियाशीलता में नियमों की व्यवस्था परिलक्षित होती है। यह नियमों का निश्चित रूप मानवीय जीवन के नैतिक आधार की भूमिका प्रस्तुत करता है और मानव भविष्य को एक स्थायी तथा निश्चित दिशा प्रदान करता है। प्रकृति की निरन्तरता मानवीय इतिहास को विकास की दिशा प्रदान करती है, और उसकी पूर्णता इतिहास को पूर्ण रूप में परि-कल्पित करती है। प्रकृति में गति और परिवर्तन परिलक्षित होते हैं, और वह निर्माण की प्रक्रिया है। एक इतिहास दृष्टि प्रकृति की इस गत्यात्मक सर्जनशीलता के आधार पर उच्चतम मूल्यों का अनुसन्धान करती है। जीवन की इस स्वतः स्फुरित सर्जन-प्रक्रिया को किसी निश्चित लक्ष्य की ओर उन्मुख न मान कर भी मूल्यवान और सार्थक माना गया है, अत: इसमें मूल्य-बोध का अन्तर्भाव स्वीकार किया जायगा। वैज्ञानिक कार्य-कारण की धारणा के अनुसार भी मानवीय जीवन-क्रम की व्याख्या में मूल्य दृष्टियों का विकास देखा गया है।

मानवीय कार्यकलापों में मानवीय बुद्धि के विकास-क्रम को देखा गया, पर प्रारम्भ में मनुष्य की आन्तरिक मनःस्थितियों के माध्यम से इस विकास को समझने की चेष्टा की गई। उसमें सांस्कृतिक चेष्टा को नहीं देखा जा सका। परन्तु क्रमशः बुद्धि के सहारे मनुष्य इतिहास की गति में सूक्ष्म संकेतों और गहरे मर्मों को समझने लगा और उनको मानव भविष्य के अनुकूल संयोजित करने का उपक्रम भी होने लगा। इस प्रकार मानव व्यक्तित्व और विवेक के द्वारा इतिहास की सांस्कृतिक मूल्य-प्रक्रिया के रूप में व्याख्या की गई है। इतिहास क्रम को मनुष्य के सर्वांगीण व्यक्तित्व की सापेक्षता में इतिहास-क्रम के साथ विकसित होनेवाली मान-वीय चेतना अन्ततः मानवीय मूल्य बोध के अन्तर्सम्बन्ध को विकसित और व्याख्यायित करती है। मानवीय विवेक तथा स्वतंत्रता इतिहास की सांस्कृतिक प्रक्रिया को अग्रसर करते हैं। काल-गति स्वतंत्रता तथा सभ्यता को अग्रसर करती है। यह काल-चक्र सर्जन की क्षमता से परिचालित है, और यह सर्जन-क्षमता व्यापक सांस्कृतिक मूल्यों को व्यंजित करती है। जिस प्रकार प्रकृति अवयवी की सापेक्षता में मानवीय इतिहास भी अवयवी के रूप में निरूपित हुआ है, उसी प्रकार प्रत्येक युग की संस्कृति वैयक्तिक और विशिष्ट है।

धार्मिक चेतना ने सामाजिक व्यवस्था के आधार पर धर्म-संघटनों के मूल्यों को विकसित किया और मानव-प्रगति तथा उपलब्धि के मानदण्ड के रूप में इन मूल्यों को प्रति-पादित किया गया। धर्म के इस आधार से जिस सीमा तक सामाजिक व्यवस्था स्वतंत्र हो सकी समाज के अपने नियमों की खोज की ओर दृष्टि गई और इन नियमों के साथ तथा आर्थिक के नियमों को भी महत्त्व मिला क्रमश मूल्यों की खोज

इन्हीं व्यवस्थाओं की अन्तःप्रक्रिया में और नियमों की क्रिया-प्रतिक्रियाओं के बीच की जाती रही है। इतिहास की इस गति को जब यांत्रिक और नियतिवादी मान कर चला गया, उस समय इन मूल्यों की दृष्टि भिन्न रही है। परन्तु जब मनुष्य-जीवन को अधिक संश्लिष्ट रूप में समझने की चेष्टा की गई, तब उसकी सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक स्थितियों-चेष्टाओं के साथ उसके धर्म, दर्शन, साहित्य तथा कला के क्षेत्र के प्रयत्नों को अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया। इस प्रकार मानव इतिहास को सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में देखने-समझने की परम्परा शुरू होती है।

संस्कृति की इस मूल्यगत चेतना के विकास के साथ मानव-इतिहास को उसके सम्पूर्ण परिवेश तथा परिसर में गतिशील माना गया और उसके सर्वांगीण व्यक्तित्व और आचरण की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति में इस चेतना को ग्रहण करने तथा व्याख्यायित करने का प्रयत्न किया जाता रहा। यहाँ मूल्य दृष्टि से व्यक्ति और समाज के अन्तर्सम्बन्ध तथा आन्तरिक प्रक्रिया को एक स्तर पर गतिशील देखा जा सकता है। ज्यों-ज्यों व्यक्ति और समाज को गहरे स्तर पर सम्बद्ध और क्रियाशील माना गया है, मनुष्य का बौद्धिक विकास उसके अनुभव जगत् को समृद्ध और व्यापक बनाता गया है, मनुष्य की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाएँ रचनात्मक मूल्यों पर परिचालित हुई और मनुष्य के ऊँचे सर्जनात्मक मूल्यों की अभिव्यक्ति उसके आध्यात्मिक, दार्शनिक, साहित्यिक और कलात्मक प्रयत्नों में लक्षित हुई। फिर इस समस्त मूल्यगत सर्जन-प्रक्रिया को संस्कृति के रूप में स्वीकार किया गया।

इस प्रकार मानवीय जीवन प्रवाह को इतिहास-क्रम के रूप में देखने की चेष्टा सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में स्वीकार की गई और उसके मूल में किसी न किसी स्तर की मूल्य भावना निहित रही है। कभी इसे सामाजिक मूल्यों की उच्चतम सम्भावनाओं के रूप में देखा गया, कभी राजनीतिक सन्तुलन की आदर्श व्यवस्थाओं की कल्पना में इसे प्रतिफलित माना गया और कभी आर्थिक सामंजस्य और समता के भावावेश में इसे प्रतिघटित करने की चेष्टा की गई। पर ये सभी पक्ष एक साथ, एक दूसरे को प्रभावित करते हुए मानवीय सर्जनात्मक मूल्य-बोध के बाह्य पक्ष को ही व्यक्त करते हैं। मनुष्य ने अपने व्यक्तित्व को क्रमशः उपार्जित किया, अपने विवेक को अधिकाधिक तटस्थ और विकसित किया, अपनी स्वतंत्रता का सही एहसास किया और इस प्रकार अपने सांस्कृतिक अनुभव अर्थात् सर्जनात्मक मूल्य बोध को दर्शन, साधना, साहित्य और कला के अधिक सर्जनात्मक, अधिक आन्तरिक तथा अधिक सूक्ष्म स्तर पर ग्रहण करने की चेष्टा की है। अन्ततः उसके व्यक्तित्व (personality) की स्वाधीनता का अर्थ पूर्ण विवेकशील होकर मूल्यों के स्तर पर पूर्ण सर्जनशील रहना स्वीकार किया है। आधुनिक युग के चिन्तकों ने जितनी गहराई के साथ व्यक्तित्व की इस सर्जनशीलता पर विचार किया है, उतने ही बल के साथ उन्होंने मानव के समस्त प्रयत्नों का मानदण्ड इस सर्जन क्षमता को निर्धारित किया है और मनुष्य के इतिहास को संस्कृति के क्रम में विवेचित किया है।

वस्तुतः यूरोप ने यथार्थ वस्तु-जगत् के आधार पर सर्जन और मूल्य की समस्त चिन्तन-पद्धति को विकसित किया है और अन्तत इतिहास को सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में की है। परन्तु चीन ने यथार्थ को सदा आदर्श रूप में किया है और यही कारण

है कि चीन के विचारकों ने मानव इतिहास की मूल्यगत उद्भावना जीवन की शैलियों के अन्वेषण में मानी है। इसकी मूल्य-चेतना के लिए एक ओर उनकी दृष्टि प्राकृतिक विधान पर है, तो दूसरी ओर सामाजिक व्यवस्था के आदर्शीकरण पर है। और यह आदर्श मूल्य सामाजिक नैतिक जीवन के सन्तुलन और एकीकरण में प्रतिफलित होता है। परन्तु इसके विपरीत भारतीय चिन्तन, पदार्थ की अपेक्षा सदा आत्म तत्त्व पर केन्द्रित हो गया है। परिणाम स्वरूप एक ओर प्रत्यक्ष भौतिक जगत् क्षणभंगुर, नश्वर और परिवर्तनशील माना गया और दूसरी ओर आत्म-तत्त्व को शाश्वत, अनश्वर, अनादि, अनन्त माना गया। इतिहास की सारी दृष्टि और दिशा इस कारण बदली हुई जान पड़ती है। परन्तु मूल्यों की सर्जनशीलता पर जो बल यूरोप की सांस्कृतिक इतिहास सृष्टि में परिलक्षित होता है, वह भारत में प्रारम्भ से अन्तर्निहित रहा है। क्योंकि यहाँ राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक समस्त मूल्य चेष्टाओं को अन्ततः उच्चतर तथा उच्चतम सर्जनात्मक मूल्यों की ओर उन्मुख किया जाता रहा है। यहाँ इन मूल्यों को आध्यात्मिक उच्चतम मूल्य-बोध के लिए सहयोगी के रूप में मान लिया गया है। यहाँ तक कि दर्शन, साहित्य और कला के सूक्ष्म सर्जनात्मक मूल्य-बोध को सदा उच्च भावभूमियों की ओर उन्मुख रखा गया है। यही कारण है कि संस्कृति के आधार पर इतिहास की मूल्यपरक व्याख्या करने वाले यूरोप के विचारक हमारे देश की सांस्कृतिक मूल्य दृष्टि और सर्जनात्मक प्रक्रिया का सही अन्दाज़ नहीं लगा पाते हैं।

कहा गया है कि भारतीय परम्परा में पश्चिम के प्रचलित अर्थ में इतिहास की धारणा नहीं रही है। परन्तु यूरोप के आधुनिक इतिहास-दर्शन के चिन्तकों ने संस्कृति की प्रक्रिया के रूप में इतिहास की जो व्याख्या और दृष्टि प्रस्तुत की है, भारतीय इतिहास की अवधारणा उसके बहुत निकट रही है। पश्चिम की इतिहास सम्बन्धी परिकल्पना मूलत. वस्तुगत यथार्थ पर प्रतिष्ठित है, जब कि भारतीय इतिहास की कल्पना प्रारम्भ से भावगत आदर्श से अनुप्राणित है। इतिहास की गति के पीछे कार्यशील कारणों तथा शक्तियों पर ध्यान जाने के बावजूद आधुनिक युग के पहले तक यूरोप में इतिहास राजनीतिक घटना-परक धारणा से मुक्त नही हो सका था। प्रायः राजनीतिक और सामाजिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं, संघर्षों-द्वन्द्वों, युद्ध-विग्रहों तथा व्यवस्था-सन्तुलन के घटना तथा तिथि क्रम को इतिहास माना जाता रहा है। धर्म को भी राजनीतिक प्रभाव तथा शक्ति के रूप में महत्त्व मिला है। अर्थ को उनकी व्यवस्थाओं के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता रहा। जब धर्म, दर्शन, साहित्य और कला आदि की चर्चा की गई तो इस प्रकार कि ऐतिहासिक युगों मे उनकी स्थिति का परिचय मिल सके। इन सब की आन्तरिक प्रक्रिया के आधार पर इतिहास को देखने-समझने का प्रयत्न यूरोप में विशेष रूप से पिछली शताब्दियों से शुरू हुआ है। सांस्कृतिक संचरणों से इतिहास की धारावाहिकता को समझने का यह आधुनिक प्रयत्न, जैसा कहा गया है मूलतः सर्जनात्मक मूल्यों की खोज पर आधारित है। परन्तु इतिहास की भारतीय धारणा के मूल में यह मूल्य-दृष्टि सदा विद्यमान रही है। वरन् इसके आग्रह के कारण हमारे इतिहास में मात्र वस्तुपरक इतिवृत्त को स्वीकार ही नहीं किया गया।

हमारी इतिहास की परिकल्पना में 'पुराण' सम्मिलित रहा है। पुराण की भारतीय अवधारणा में मानव इतिहास सृष्टि से प्रारम्भ होता है। सृष्टि के रूप में मानव के जीवन-क्रम में एक ओर सर्जन-चेष्टा को देखा जा सकता है और दूसरी ओर विकास की सम्भावना से उसे जोड़ा जा सकता है। साथ ही मनुष्य को एक व्यापक योजना के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। इस सर्ग के बाद पुराण के प्रतिसर्ग में सृष्टि के विस्तार, तिरोभाव और पुनःसर्जन की कल्पना है। इस प्रकार माना गया है कि यह मानवीय सर्जन की अवधारणा चक्राकार है, एक प्रवर्तन के पूरा होने के बाद दूसरा प्रारम्भ होता है। यहाँ वंशों की विकास-परम्पराओं का विवरण केवल राज्य वंशावलियों की दृष्टि से नहीं वरन् युगों के संचरण में वंशों के महत्व की अपेक्षा रखता है, चाहे वे राजाओं के वंश हो या ऋषियों के। इसीलिए आगे गौरवशाली वंशों के विस्तृत विवरण प्रस्तुत करने का निर्देश है। परन्तु इतना ही कुछ पुराण नहीं है, उसमे अलग-अलग मनु-सृष्टिओं (सांस्कृतिक संचरणों) के प्रत्येक क्षेत्र की महान् उपलब्धियों का लेखा-जोखा भी होना चाहिए।[1] परन्तु पुराण की यह परिभाषा हमारी इतिहास सम्बन्धी धारणा की पूर्व-स्थापना है, अर्थात् भारतीय दृष्टि मानवीय जीवन-क्रम को इतने व्यापक परिप्रेक्ष्य मे ग्रहण करती है। हमारी इतिहास कल्पना में धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इस पुरुषार्थ-चतुष्टय का समान महत्त्व स्वीकार किया गया है। इस इतिहास में मनुष्य जीवन की व्यापक मूल्योपलब्धियों को घटना-क्रम और उसके कारण-कार्य की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते आये हैं। और यह मूल्य-दृष्टि निश्चित रूप से मानवीय जीवन के उन्नयन की ओर निर्दिष्ट है, क्योंकि उपदेशपरक मानी गई है। साथ ही जिस अतीत के वृत्तान्त को उसमें स्वीकृति मिली है, उसके बारे में भी शर्त है कि वह मूल्य-बोध की भावना से कथात्मक हो और मनुष्य के विकास के लिए उपयोगी भी हो।[2] इसके साथ भारतीय इतिहास मूल्यपरकता के कारण केवल राज-पुरुषों के चरित्र तक सीमित नहीं है, उसमें अन्य मूल्यों के वाहक महान् श्रेष्ठ पुरुषों तथा देवर्षियों के चरित्र को प्रस्तुत करने का भी निर्देश है। आज यह स्वीकार किया जाने लगा कि इतिहास की कोई भी दृष्टि या व्याख्या वस्तुपरक सम्भव नहीं है और ऐसा करने की चेष्टा में इतिहास जड़ परम्परा का द्योतक रह जाता है। अत. उसकी गत्यात्मक सर्जनशील दृष्टि को भविष्योन्मुखी होना चाहिए। भविष्य की यह दृष्टि और धर्म के रूप में मूल्य की मान्यता भारतीय इतिहास की कल्पना मे विद्यमान है।[3]

प्रायः १९वीं शती से यूरोप के चिन्तकों ने इतिहास के अध्ययन को मानवीय संस्कृतियों के विकास-क्रम के रूप में विवेचित करने का स्पष्ट प्रयत्न किया है। उन्होने इतिहास दृष्टि को वस्तु-स्थितियों, परिस्थितियों, घटनाओं, चरित्रों तथा कार्य-कारण मीमांसा से हटा कर सांस्कृतिक प्रक्रिया की ओर उन्मुख किया। इस प्रकार उन्होंने मनुष्य की सर्जनात्मक क्षमता को अधिक केन्द्रीय माना और उसके मूल्य-बोध पर बल दिया। रूसी चिन्तक दानिलेव्स्की ने यूरोप के इतिहास पर विचार करते समय उसको भौगोलिक-इकाई या इकाईयों के रूप में न ग्रहण कर सांस्कृतिक इकाई माना है। इन्होंने

यूरोप जिसे वे जमन रोमन नाम से पुकारते हैं—की सास्कृतिक इकाई के साथ मिस्री चीनी, असुर-बाबुली, हिन्दी, यूनानी, ईरानी, रोमन, इब्रानी, अरबी नौ इकाईयाँ और गिनाई है, जिनमें कुछ को वे एकांत (सोलीटरी) और कुछ को संक्रमक (टांसमिटेबिल) मानते हैं। चीनी तथा हिन्दी ऐसी संस्कृतियाँ हैं जो अपने देशों में विकसित हुई हैं, पर मिस्री, युनानी आदि ऐसी संस्कृतियाँ है जो एक देश में समाप्त होकर पुनः अन्य संस्कृतियो मे संक्रमित हो गई हैं। जर्मन इतिहास-चिन्तक स्पेंगलर के अनुसार मनुष्य की इतिहास यात्रा को संस्कृतियों के उत्थान-पतन में परिलक्षित किया जा सकता है। उनके अनुसार मानव-इतिहास विभिन्न संस्कृतियों की उत्ताल-तरंगों के उठने गिरने के क्रम में गतिशील है। मानव इतिहास के प्रवाह के तल पर महान् संस्कृतियों के तरंग-वलय बनते रहते है। आकस्मिक आवेग के साथ वे आविर्भूत होते हैं और सुन्दर वलयों में ऊपर उठते हुए गिरने लगते हैं और विलीन हो जाते हैं। इतिहास के संचरण के केन्द्र में ये संस्कृतियाँ है। सस्कृति को अवयवी मान कर स्पेंगलर उसकी आत्मा की कल्पना करते हैं और उसका अभिव्यक्ति सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक व्यवस्था के मूल्यगत प्रतीकों में मानते हे। अधिक सूक्ष्य स्तर पर यह अभिव्यक्ति ज्ञान-विज्ञान, दर्शन-साधना तथा साहित्य-कला के प्रतीको मे रूप ग्रहण करती है।

अंग्रेजी इतिहास-चिन्तक ट्वायनबी ने भी मानव-इतिहास के प्रवाह को ग्रहण करने की दृष्टि से सांस्कृतिक इकाइयों को महत्त्व प्रदान किया। इस इकाई की व्याप्ति वहाँ तक मानी जायगी, जहाँ तक एक प्रकार की जीवन-पद्धति को समझने के लिए हमारी दृष्टि जानी चाहिए। उदाहरण के लिए पश्चिमी यूरोप इस प्रकार की एक इकाई है, परन्तु पश्चिमी यूरोप की जीवन-शैली की परम्परा को समझने के लिए हेलेनिक (यूनानी-रोमीय) सभ्यता-सस्कृति पर दृष्टि डालना भी जरूरी है और उसके विस्तार को आधुनिक अमरीकी समाज मे देखा जा सकता है। ट्वायनबी ने वर्तमान पाँच संस्कृतियों को माना है, पश्चिमी यूरोप के अतिरिक्त पूर्वी यूरोप, इस्लाम, भारत और सुदूर पूर्व की संस्कृतियाँ। इनके आधार मे हेलेनिक, सीरियाई, हिन्दी और चीनी प्राचीन संस्कृतियाँ अन्तर्निहित है। इन संस्कृतियों को अग्रसर करने में ट्वायनबी के अनुसार सर्जनात्मक व्यक्तित्वों और सीमित वर्गों का विशेष योग रहता है। इस प्रकार मूल्यों को इनके द्वारा गतिशीलता प्राप्त होती है। रूसी इतिहास दार्शनिक सोरोकिन ने इतिहास में राजनीतिक, सामाजिक तथा शक्ति-सन्तुलन की घटनाओं के स्थान पर उसके सांस्कृतिक संचरण को महत्त्व प्रदान किया। मनुष्य अपनी जीवन-पद्धति और अपने संस्कार का विकास मूल्यों, आदर्शों तथा स्थापनाओं के आधार पर करता है, और यह सांस्कृतिक स्वरूप मनुष्य जीवन को सत्य, शिव और सुन्दर के मूल्यों से निरूपित करता है। अन्ततः इसका प्रतिफलन सामाजिक परिवेश में ही होगा। सोरोकिन की सामाजिक सांस्कृतिक इकाई एक प्रकार से अवयवी है, क्योंकि इसके समस्त अंग एक दूसरे में सन्निविष्ट होते हैं और उसमें आन्तरिक एकता विद्यमान है। प्रत्येक संस्कृति के निजी आदर्श तथा मूल्य होते है जिनसे उसकी नैतिकता, व्यवस्था, न्याय-पद्धति और धर्म, दर्शन, साधना, साहित्य तथा कला में अभिव्यक्ति के रूप अनुप्राणित होते हैं

अमेरीकी चिन्तक टर्नर के अनुसार संरचना (स्ट्रक्चर) और प्रक्रिया (प्रोसेस) के माध्यम से मानव कार्य-कलाप एक निश्चित सांस्कृतिक चेष्टा में अभिव्यक्त होते हैं। मानव समाज की रचना विभिन्न भागों के समूह से हुई है, जो समाज की समष्टि में एक साथ क्रियाशील होते हैं। फिर समाज की यह संरचना अपनी आन्तरिक शक्ति से अथवा बाह्य तत्त्वों की प्रतिक्रिया से आन्तरिक परिवर्तन में सक्षम होती है और इस प्रकार एक समाज अपने स्थायी मूल्यों के साथ सर्जनात्मक विकास करने में समर्थ होता है। इस क्रम में संस्कृति सामाजिक, नैतिक और धार्मिक मूल्यों के साथ दार्शनिक, साधनापरक, साहित्यिक तथा कलात्मक मूल्यों को विकसित करने में समर्थ होती है। एक अन्य रूसी चिन्तक बेर्दिएव ने मानवीय बाह्य परिस्थितियों और घटना-क्रम के स्थान पर इतिहास को विभिन्न मानव समाजों की आत्मा की खोज के रूप में स्वीकार किया है। जिसके अध्ययन का लक्ष्य इन समाजों के आन्तरिक जीवन की मूल्य-प्रक्रिया का अनुसन्धान करना है। बेर्दिएव का संस्कृति के बारे में स्पष्ट दृष्टिकोण है। वे संस्कृति में नवीन आदर्शों तथा मूल्यों को रूपायित होते देखते हैं, और इस प्रक्रिया को सर्जनात्मक मानते हैं। इस प्रकार उनका मानवीय इतिहास का दृष्टिकोण सांस्कृतिक मूल्य-बोध पर प्रतिष्ठित है। अमेरीकी विचारक क्रोएबर सांस्कृतिक संचरण में सर्जनात्मक प्रतिभाओं को महत्त्व देकर इसी तथ्य पर बल देते हैं।

जर्मन चिन्तक श्वाइत्जर की संस्कृति सम्बन्धी धारणा भारतीय विचार के निकट है। उन्होंने संस्कृति को मूलतः नैतिक मूल्यों के आधार पर परिचालित माना है। मनुष्य प्रकृति की शक्तियों को नियंत्रित करके भौतिक दृष्टि से अग्रसर होता है, पर उसका वास्तविक उन्नयन आत्मनियंत्रण और आत्मानुशासन के द्वारा आध्यात्मिक मूल्यों की उपलब्धि में ही सम्भव है। अमरीकी चिन्तक नोथ्रोप ने नैतिक मूल्य की अपेक्षा दार्शनिक चिन्तन को संस्कृतियों की प्रक्रिया में अधिक केन्द्रीय स्वीकार किया है। इस चिन्तन में एक ओर समाज की वैज्ञानिक दृष्टि प्रतिफलित होती है, व्यवस्थाओं का आधार परिलक्षित होता है, तो दूसरी ओर समाज की सम्पूर्ण राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा कलात्मक मूल्य-चेतना इस चिन्तन से प्रभावित और प्रेरित होती है। इंग्लैण्ड के पोपर ने आधुनिक दृष्टि से वैज्ञानिक तथा तार्किक नियतिवाद को मानवीय भविष्य के लिए भ्रामक माना है। उनके अनुसार मानव बुद्धि और ज्ञान का मानव इतिहास-क्रम पर गहरा प्रभाव देखा जाता है। मानवीय ज्ञान की सीमा और सम्भावनाएँ अपार हैं, अतः मानवीय भविष्य की कोई कल्पना निश्चित या पूर्ण नहीं मानी जा सकती। इस प्रकार पोपर ने मानवीय संस्कृति को सर्जनात्मक मूल्यों की अनवरत प्रक्रिया के रूप में निरूपित किया है। वे मनुष्य की बुद्धि के साथ उसकी रचनात्मक सम्भावना को असीम स्वीकार करते हैं, साथ ही इस रचनात्मक मूल्य-प्रक्रिया में वैयक्तिक प्रतिभाओं के महत्त्व को प्रतिपादित करते हैं।

यह स्वीकार कर लेने पर कि मानवीय जीवन का सारा गति-प्रवाह और सारी प्रयत्न चेष्टाएँ मूल्यपरक सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में ही अधिक संगत हैं, उसमें निहित नियमों की ओर ध्यान जाता है। दानिलेव्स्की सांस्कृतिक संचरण के लिए आधार रूप से एक जातीय या इकाई को स्वीकार करते हैं को समान भूमि पर जाति या समाज

का मानसिक, बौद्धिक तथा अध्यात्मिक विकास में गतिशील होना अपेक्षित है। प्रत्येक संस्कृति की अपनी वैयक्तिक विशेषताएँ होती हैं जो अन्य संस्कृतियों के सम्पर्क में आने पर अथवा उनसे प्रभावित होने पर बनी रहती हैं। जातीय इकाई के रूप में स्वतंत्रता, संघटन और सामंजस्य के भाव से संस्कृति मे पूर्णता, वैविध्य तथा सम्पन्नता आती है और फिर संस्कृतियों का विकास जीवधारी अवयवी के समान होता है। प्रारम्भ में विकास काल होता है, फिर परिपक्वता का युग आता है और अन्त में विघटन शुरू हो जाता है। स्पेंगलर की दृष्टि अधिक वैज्ञानिक है, उन्होंने संस्कृति को गतिमान्, क्रियाशील, अमूर्त और सर्जनात्मक इतिहास-क्रम में प्रतिफलित माना है। देश-व्याप्त प्रकृति के विपरीत और उसके हेतुवाद से मुक्त इतिहास की गति, प्रक्रिया और नियति संस्कृतियों के उत्थान-पतन में अभिव्यंजित होती है। इन संस्कृतियों के जीवन-क्रम का उद्देश्य एक पूर्णता तक पहुँच कर समाप्त हो जाना है, जिस प्रकार जीवित प्रकृति उत्पत्ति-विकास-नाश के क्रम में प्रवाहित है। मनुष्य की जीवन-लीला के समान संस्कृतियों की प्रक्रिया को भी सर्जन-विनाश के क्रम में देखा जा सकता है। प्राणी के समान संस्कृति का जब जन्म होता है, तब वह सीमाओं में बद्ध रहती है और उसकी आत्मा गतिरुद्ध रहती है। परन्तु उसकी आत्मा क्रमशः समाज और व्यक्ति की संस्थाओ, नियमों, विचारों, भावनाओं, कल्पनाओं तथा अन्ततः उच्च सर्जनात्मक मूल्यों में प्रस्फुटित होती है। इस विकास-क्रम में जब संस्कृति के जीवन की समस्त सम्भावनाएँ उपलब्ध हो चुकती है, तब उसका विलय हो जाता है।

ट्वायनबी ने सांस्कृतिक संचरण को समाज की चुनौतियों और प्रतिक्रियाओ के द्वारा व्याख्यायित किया है, इनके माध्यम से समाज जड़ता-स्थिरता को त्याग कर सर्जनात्मक प्रगति की ओर अग्रसर होता है। ये चुनौतियाँ प्राकृतिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक दबावो तथा आघातों से उत्पन्न हुई हैं। आगे चल कर वैयक्तिक स्तर पर ये चुनौतियाँ धर्म, दर्शन साधना और कला आदि के आन्तरिक दबावों और आघातों से भी पैदा हुईं। चुनौतियों की प्रतिक्रिया तथा उत्तर से पहली चुनौतियाँ समाप्त होती हैं तो साथ ही नई चुनौतियाँ सामने आ जाती हैं। यह क्रम ही विकास है, परन्तु इसके लिए व्यक्ति को अपना आन्तरिक सन्तुलन बनाना पड़ता है। ज्यों-ज्यों इस आत्म-संयम में आन्तरिकता तथा जटिलता आती-जाती है, उन्नत तथा संस्कृत जीवन-पद्धति विकसित होती है। आगे स्पेंगलर वैयक्तिक प्रतिभाओ के आधार पर यह भी प्रतिपादित करते हैं कि सांस्कृतिक प्रक्रिया इनके सामाजिक जीवन में प्रक्षेप तथा उससे निक्षेप के द्वारा परिचालित है। अर्थात् ये प्रतिभाएं कुछ समय के लिए इतिहास-क्रम से अलग होकर शक्ति-सन्धान करती हैं और फिर उसमें लौट कर विशेष गति से सर्जनात्मक प्रक्रिया को चालित कर देती हैं। सोरोकिन के अनुसार मानव-इतिहास के क्रम में सांस्कृतिक (सामाजिक) व्यवस्थाएँ प्रकट होती हैं; अपने सर्जनात्मक तत्त्वों और सूत्रों को संघटित और नियोजित कर संस्कृतियाँ अपना रूप तथा व्यक्तित्व ग्रहण करती है। संस्कृति के अवयवी दृष्टिकोण को न स्वीकार कर वे सांस्कृतिक धाराओं के संगम तथा संघात से प्रवाह के बदलते हुए वेग से परिवर्तन स्वीकार करते हैं। इस क्रम में सांस्कृतिक व्यवस्थाओं का प्रत्यावर्तन होता है पिछली व्यवस्थाएँ वापस आती हैं

जैसा कहा गया है टर्नर संस्कृति को संरचना तथा प्रक्रिया के द्वारा गतिशील मानते है। मनुष्य की बुद्धि और भावशीलता ने संरचना को आन्तरिक शक्ति से सर्जन की गति प्रदान की है। संस्कृतियाँ उपकरण, व्यवस्था और विचार-पद्धतियों से क्रियाशील होती है, जिनकी विभिन्नता उनमें अन्तर उत्पन्न करती है। शुबार्त समन्वय, शक्ति-आकांक्षा, वैराग्य भावना तथा संरक्षण कामना की मौलिक प्रवृत्तियों से संस्कृति के विभिन्न पक्षों की अभिव्यक्ति मानते हैं। ये पक्ष अपने पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती पक्षों से संघर्षशील होते हैं, और इस प्रकार संक्रान्ति के युग सामने आते हैं। ऐसा नहीं कि ये पक्ष एक समाज में ही सदा सीमित रहें, ये अपना विस्तार भी करते हैं। पक्षों के इस परिवर्तन में संस्कृति की सर्जन-क्षमता का परिचय मिलता है। क्रोएबर ने संस्कृतियों के संचरण में सर्जनात्मक प्रतिभाओं को प्रेरक कारण स्वीकार किया है। हर युग में ऐसे व्यक्तित्व उसके सांस्कृतिक प्रयत्नों का मानदण्ड स्थापित करते हैं। इन प्रतिभाओं का भी उसी सीमा तक महत्त्व है जिस सीमा तक वे युग-विशेष की सांस्कृतिक उपलब्धि में योग देते हैं और ये सर्जनात्मक व्यक्तित्व सांस्कृतियो को विभिन्न दिशाओं में विकसित करने में समर्थ होते हैं। श्वाइत्जर संस्कृति की प्रेरणा का मूलाधार जीवन के प्रति प्रेम तथा आस्था को मानते हैं, उनसे नैतिक मूल्य सक्रिय होकर मनुष्य को आध्यामित्क उच्च-भूमि की ओर उन्मुख करते हैं। सांस्कृतिक प्रक्रिया को समझने के लिए पोपर ने आधुनिक विज्ञान की सापेक्षतावादी दृष्टि अपनाई है। वे सर्जनात्मक मूल्यो और उपलब्धियों के क्षेत्र में किसी निश्चित क्रम या योजना को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार मनुष्य की बौद्धिक क्षमता और प्रतिभा की सम्भावनाओं को सीमित या निश्चित नही किया जा सकता है, उनमें वैयक्तिक तत्त्व और आकस्मिक की संभावना सदा बनी रहती है। अतः मनुष्य की सर्जनशीलता को पूर्णतः व्याख्यायित नहीं किया जा सकता और न मानव भविष्य की भविष्यवाणी की जा सकती है।

× × ×

सम्पूर्ण मानव-इतिहास को सांस्कृतिक विकास-क्रम मे विवेचित करने वाले दार्शनिकों ने प्रायः मानव संस्कृतियों के उत्थान-पतन को स्वीकार किया है। पीछे कारणों और नियमों की चर्चा की गई हैं। यहाँ इस क्रम के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टियों को प्रस्तुत करना हैं। कुछ विकासवादी तथा मानवतावादी इतिहास-चिन्तकों का संस्कृति के विकास के बारे में 'तोलेमेक' दृष्टिकोण रहा है। यूनानी विचारक तोलेमी की यह धारणा थी कि पृथ्वी सौरमण्डल का केन्द्र है। इसी प्रकार इतिहास-चिन्तकों का एक वर्ग मानता था कि मानवीय प्रगति निरन्तर एक रेखा में हो रही है और यूरोप की आधुनिक संस्कृति मानव-इतिहास का मुख्य लक्ष्य है, यह केन्द्रीय है। परन्तु जो विचारक मानते हैं कि संस्कृतियाँ जन्म लेती है, विकसित होती हैं, प्रौढ़ होकर जराग्रस्त होती हैं, और अन्ततः अपना वृत्त पूरा कर समाप्त हो जाती है, उनका दृष्टिकोण 'कोपरनिकन' कहलाता है। कोपरनिकस भारतीयों के समान वृत्ताकार पिण्डों के समूह के रूप में सौरमण्डल को मानते थे। इस प्रकार इस में मानव इतिहास अनेक सस्कृतियो के जीवन-वृत्तों में परिचालित होता है। भारतीय युगो तथा मन्वन्तरों की कल्पना में इस विकास-ह्रास की भावना विद्यमान है यह

अवश्य है कि कुछ चिन्तक संस्कृति के एक चक्र को दूसरे से स्वतंत्र और स्वायत्त मानते हैं और कुछ चिन्तक इनके अन्तर्सम्बन्ध तथा एक के अवशेष से दूसरे के विकास को स्वीकार करते हैं।

दानिलेव्स्की ने सांस्कृतिक इकाइयों के जीवन के तीन युग माने हैं—प्राचीन, मध्य अर्वाचीन। प्राचीन युग में अपनी आदिम अवस्था से समाज जागरूक होकर सांस्कृतिक व्यक्तित्व मे रूप ग्रहण करता है। मध्य युग में स्वातंत्र्य के माध्यम से संस्कृति की प्रक्रिया तीव्र होती है। आर्वाचीन युग संस्कृति की परिपक्वता का काल होता है, जिसमें मूल्यों का सर्जनात्मक रूप अधिक परिलक्षित होता है। अपने संचरण की चेष्टा में कभी कुछ सस्कृतियों की सर्जन क्षमता चुक जाती है। और वे रूढ़िबद्ध तथा परम्परित हो जाती हैं और कुछ संस्कृतियाँ दूसरों में संक्रमण करती हैं। स्पेंगलर संस्कृतियों के संचरण को चक्राकार मानते हैं, उनका जन्म-विकास-बिलय होता है। उन्होंने ऋतु-चक्र के प्रतीक से संस्कृति की वृत्तात्मक गति को समझाया है। संस्कृति के बाल-काल में बसन्त का उद्रेक, आन्दोलन, भावावेश, सहजता और सौन्दर्य होता है। यौवन-काल में सर्जन क्षमता विकसित होकर ग्रीष्म की शक्ति, दृढता, विश्वास, परिपक्वता में परिलक्षित होती है। संस्कृति का प्रौढ़-काल वर्षा के समान है, वृद्धावस्था शरद् ऋतु के समान है, और इस काल में संस्कृति में एक प्रकार की जड़ता और शीतलता आने लगती है जो कृत्रिम सन्तुलनों में लक्षित होती है। अन्त में हेमन्त को जर्जरावस्था का प्रतीक माना गया है, जिसमें स्पेंगलर के अनुसार संस्कृति शीर्ण तथा विशृंखल होकर नये जीवन (पुनर्जीवन) की कामना से स्पन्दित होती है। टॉयनबी भी संस्कृतियो के विभिन्न वृत्तों की कल्पना करते हैं। उन्होंने आज पाँच सभ्यताओं का अस्तित्व माना है और इनके पीछे अतीत की संस्कृतियों को माना है, पुनः उनके आधार में प्राचीन मिनोअन, बेबीलोनियन, हिट्टायत संस्कृतियों को स्वीकार किया है। इनके अतिरिक्त अति प्राचीन मिस्री सुमेरी, युकेटिक तथा मायन सभ्यताएँ भी है। परन्तु वे चीनी तथा भारतीय संस्कृतियों को स्वतंत्र तथा निरन्तर प्रवहमान् मानते हैं। एक संस्कृति की सर्जनशील प्रतिभाएँ समाज के जीवन को प्रभावित करने में विफल हो जाती हैं तो उसका विकास अवरुद्ध हो जाता है। और सर्जन क्षमता के क्षीण होने के साथ उसमें ह्रास के चिह्न परिलक्षित होने लगते हैं। स्पेंगलर के समान सोरोकिन का दृष्टिकोण चक्र-प्रवर्तन का समर्थन करता है। सभी संस्कृतियो की गति चक्राकार परिचालित है। यह अवश्य है कि सोरोकिन संस्कृतियों की आन्तरिक अन्विति पर बल देकर उनकी छोटी इकाइयों की परिकल्पना करते हैं और उनकी व्यवस्थाओं के तीन रूप माने हैं, जिनका क्रम विभिन्न धाराओं के संगम से अग्रसर होता रहता है। ये संस्कृतियाँ अपने-अपने वृत्तों में समाप्त नहीं होती, वरन् एक दूसरे का संक्रमण होता रहता है। श्रद्धा और आस्था पर आधारित भावमूला संस्कृति में धर्म और अध्यात्म का माहात्म्य है। विज्ञान तथा परीक्षण पर आधारित प्रत्यक्षमूला संस्कृति में भौतिक समृद्धि पर बल रहता है। इन दोनों का समन्वय आदर्शमूला संस्कृति में माना गया है। इस संस्कृति में धर्म तथा दर्शन के साथ साहित्य तथा कला में　　　परिलक्षित होती है

टर्नर ने नागरिक संस्कृति के पूर्व और आदिम अवस्था के बीच संस्कृतियों के कुछ

स्तर माने हैं। आदिम अवस्था से मनुष्य ने शिविर-जीवन में शिकारी संस्कृति का विकास किया। फिर पशु-चारण के लिए विचरण करते हुए घुमन्तू जातियों ने पशु-चारण संस्कृति को रूप प्रदान किया। गाँवों में बस कर और खेती करते हुए मनुष्य समाज ने कृषक संस्कृति का सूत्रपात किया। परन्तु नागरिक संस्कृतियाँ ही वैविध्यपूर्ण और व्यापक क्षेत्रों के मूल्यो से समृद्ध रही हैं। टर्नर भी स्वीकार करते हैं कि ये नागरिक संस्कृतियाँ निश्चित मूल्यों की उपलब्धि के साथ समाप्त हो जाती है, परन्तु साथ ही वे अगली संस्कृतियों में संक्रमण करती है। शुबार्त संस्कृति को सन्तुलन, वीर, संन्यस्त और मसीही पक्षों में प्रवर्तित मानते हैं। पहले पक्ष में संस्कृति का आधार प्रकृति की स्थिरता और सन्तुलन रहता है, दूसरे मे संस्कृति प्रकृति पर मनुष्य की विजय को प्रतिपादित करती है, तीसरे पक्ष में प्रकृति के परे परम सत्य तथा परम तत्त्व के साक्षात्कार से संस्कृति का सम्बन्ध जोड़ा जाता है और चौथे में ईश्वरी व्यवस्था की स्थापना की सम्भावना से संस्कृति अनुप्राणित होती है। ये सांस्कृतिक पक्ष स्वत: सर्जनशीलता से परिचालित हैं और इनका एक से दूसरे में संक्रमण भी सर्जन प्रक्रिया के माध्यम से देखा जाता है। बेर्दिएव संस्कृति के वृत्तात्मक संचरण में संस्कृति के नश्वर तत्त्वो के विनाश और शाश्वत तत्त्वों के संरक्षण को मानते हैं। ये शाश्वत तत्त्व जिस संस्कृति की सर्जन क्षमता से उपलब्ध होते हैं, उसके समाप्त होने के बाद अगली संस्कृति के लिए भी मूल्यवान होते हैं। इस प्रकार उनके अनुसार एक संस्कृति की सर्जनात्मक उपलब्धि समाप्त नही होती, वह अगले सांस्कृतिक प्रयत्नों को समृद्ध करती है। वे सांस्कृतिक विकास को भौतिक उन्नति से अलग मानते हैं, उनमें विरोध भी देखते हैं। उन्होंने संस्कृति के संचरण को बर्बर आदि, धार्मिक मध्य तथा मानवतापरक अर्वाचीन कालों में गतिशील माना है। साथ ही इन कालों के प्रत्यावर्तन को भी स्वीकार किया है। क्रोएबर ने सांस्कृतिक वृत्तो की अवधारणा में एक तत्त्व यह जोड़ा है कि संस्कृत समाज ऐसे कई वृत्तों से गुज़रते हैं। नोथ्रोप का विचार है कि संस्कृतियाँ अनाविल या अनिर्भर नहीं होती हैं, उनमें अन्य संस्कृतियों का संश्लेष होता है। एक समाज के विकास-क्रम में अनेक संस्कृतियाँ मिलती रहती हैं। इनके क्रम और व्यक्तित्व को स्वतंत्र नहीं माना जा सकता। परन्तु प्रकृति के अनुसार इनके दो प्रमुख भेद स्वीकार किए गये है, एक सिद्धान्त-आश्रित वैज्ञानिक संस्कृतियाँ और दूसरी सौन्दर्यपरक सवेदनात्मक संस्कृतियाँ।

× × ×

पीछे संस्कृति सम्बन्धी चर्चा इतिहास-दर्शन के सन्दर्भ में की गई हैं। और इस समस्त अध्ययन से यह प्रतिपादित हुआ है कि मानव इतिहास को संस्कृति के आधार पर व्याख्यायित करने का अर्थ है, मनुष्य के सर्जन को महत्त्व देना और मूल्य-दृष्टि पर बल देना। नृतत्व के आधार पर विचार करने से इस अध्ययन पर एक नये कोण से प्रकाश पड़ सकेगा। यह शास्त्र मनुष्य के समस्त कार्य-कलापों तथा सामाजिक व्यवहारों पर विचार करता है। नृतत्व के अन्तर्गत मनुष्य की ये समस्त क्रियाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। इसलिए इसे 'रीति-रिवाजों का विज्ञान' कहा गया है अर्थात् समाज की किसी भी अवस्था में मनुष्य की स्थिति और व्यवहार का अध्ययन इसका विषय है। यह विज्ञान मनुष्य के समाज में समस्त व्यवहारो और उनकी

परम्परा पर विचार करता है, उनका अध्ययन करना। उसमें चयन का सवाल नहीं उठता। अपनी इस वैज्ञानिक स्थापना के कारण नृतत्व मानव समाजों में घटित होने वाले आकस्मिक, वैयक्तिक, विशिष्ट परिवर्तनों को महत्त्व नहीं देता है और इस कारण उच्च संस्कृतियों का अध्ययन उसके अन्तर्गत सम्भव नहीं हो पाता। उच्च संस्कृतियों की विशिष्ट और वैयक्तिक उपलब्धियों की विवेचना किये बिना उनका अध्ययन नहीं किया जा सकता है। अर्थात् सस्कृतियों के अध्ययन में मूल्य दृष्टि की उपेक्षा करके बहुत दूर तक नही चला जा सकता।

इसी कारण नृतत्व शास्त्रियों ने संस्कृति की परिभाषा भी इसी प्रकार देने की चेष्टा की है। सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य रीति-रिवाजों में बँधता जाता है, व्यवस्थाओं का निर्माण करता है, नीति और कानून का प्रचलन करता है, ज्ञान-विज्ञान का विकास करता है। इन सब से सम्बन्धित मनुष्य की योग्यता, उपलब्धि और सर्जनशीलता को संस्कृति माना गया है। इसलिए कुछ विद्वान संस्कृति को केवल सामाजिक दाय मानते हैं, मनुष्य जो सीखता और व्यवहार करता है उस सब को संस्कृति कहा जाता है। परम्परा संस्कृति को विकसित करती है, क्योंकि इसके द्वारा मनुष्य-समाज जो कुछ ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल, उपयोगी वस्तुएँ, स्वीकृत व्यवहार, आदतें, चिन्तन और मूल्य-भावना संग्रहीत करता है, उस सबको सस्कृति कहते हैं।[४] विज्ञान-दृष्टि के कारण नृतत्व मानव जीवन के समस्त व्यवहारों, सांस्कृतिक पक्षों, विभागों और उसकी जो यावत् सामग्री है उस सबको अपने अध्ययन के क्षेत्र में ग्रहण करता है। इन व्यवहारों, आचरणों; घटनाओं के कारणों पर विचार करते हुए सामान्य नियमों को निरूपण करना उसका मुख्य लक्ष्य है। इस समस्त सामग्री और मनुष्य के समस्त आचरण पर दृष्टि रख कर भी इस अध्ययन में सम्पूर्ण मनुष्य पर दृष्टि नहीं रहती है। संस्कृति सम्बन्धी नृतत्व शास्त्रियो का दृष्टि कोण इस भावना से अनुशासित है, क्योंकि वे संस्कृति को मनुष्य के समस्त व्यवहार, आचरण, रीति-रिवाज, रहन-सहन, चिन्तन-मनन के रूप मे स्वीकार करते हैं। और उसका अध्ययन इन सब के समाज-विशेष में प्रचलित रूपो के विवरण-विवेचन के आधार पर करते हैं।[५] उनका दृष्टिकोण और पद्धति वस्तुपरक है। इसी कारण इस प्रकार के अध्ययनों में परम्परा का अधिक महत्त्व है जो सामाजिक जीवन मे मनुष्य के व्यवहार का निरूपण निर्धारण करती है। मनुष्य की विशिष्टता, वैयक्तिकता, मूल्य दृष्टि, सर्जनशीलता को इसमें महत्त्व नहीं मिलता, वस्तुतः जिन्हें संस्कृति के संचरण मे हम अधिक गतिशील पाते हैं।

जैसा देखा गया है कि मानव-जीवन के प्रवाह को, युगों के क्रम को, सामाजिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं, राजनीतिक उत्थान पतन को तथा समाज के आर्थिक आधार को वैज्ञानिक कार्य कारण, सामान्य नियमों, व्यापक सिद्धान्तों के माध्यम से विवेचित कर इतिहास की धारणा को ग्रहण करने का हर प्रयास विफल हुआ है। क्योंकि हर बार मनुष्य की विशिष्टता, प्रतिभा, वैयक्तिकता, सर्जनशलिता और मूल्य-दृष्टि इस प्रकार के अध्ययन में छूट जाते है। यदि इनका किसी अन्य पक्ष से प्रवेश हुआ तो इतिहास-क्रम में ऐसा भावावेश अथवा अतिरजना आ जाती है जो हमारे इतिहास बोध को एक सीमा तक विकृत तथा भ्रमपूर्ण कर देती है इसीलिए सही दृष्टि इतिहास को सास्कृतिक सचरण के रूप में स्वीकार करती है, क्योंकि इस

प्रकार मनुष्य की सर्जनशीलता और मूल्य-चेष्टा के आधार पर ही इतिहास-क्रम को देखने का उपक्रम होता है। नृतत्व में मानव समाज के अध्ययन की सीमा भी यही है। डॉ० देवराज ने इसीलिए माना है कि इस शास्त्र के अन्तर्गत उच्च समाजों तथा संस्कृतियों का अध्ययन सम्भव नही है, क्यों बिना मूल्य अवधारणा के इनकी सही विवेचना नही की जा सकी है और नृतत्व इस पर विश्वास नहीं करता। उनके अनुसार मनुष्य के किसी व्यवहार-क्षेत्र का अध्ययन मूल्यांकन को बचा कर नहीं किया जा सकता, क्योंकि मनुष्य अपने व्यवहार का मूल्याकन करता है। इन मानवीय विधाओं और शास्त्रों की अध्ययन-सीमा को वस्तुपरक क्षेत्रों में बाँध भी दिया जाय और यह भी मान लिया जाय कि इस प्रकार वैज्ञानिक अध्ययनों का अपना महत्त्व है, तो भी जब हम सम्पूर्ण मनुष्य और उसके जीवन-क्रम पर विचार करते हैं, तब हमको उसकी सर्जनशीलता और मूल्य-चेष्टा को केन्द्र में रखना होगा, जिनका उसकी वैयक्तिकता, विशिष्टता और प्रतिभा से गहरा तथा आन्तरिक सम्बन्ध है। और इस प्रक्रिया को ही संस्कृति के नाम से पुकारा जाता है।

× × ×

संस्कृति के साथ सभ्यता शब्द का प्रयोग भी किया जाता है। कुछ चिन्तकों ने इन दोनो शब्दों के प्रयोग में अन्तर नहीं माना है।[४] कुछ दोनों में अन्तर मान कर संस्कृति के एक पक्ष को सभ्यता मानते हैं। समाज के यांत्रिक और उपयोगी पक्ष का सम्बन्ध सभ्यता से माना गया है और मौलिक मूल्यों का क्षेत्र संस्कृति का है। कुछ संस्कृति और सभ्यता को अन्तः और बाह्य पक्ष मान कर एक ही सामाजिक प्रक्रिया के रूप में स्वीकार करते हैं। अन्य दोनों को विरोधी, तथस्थ अथवा निरपेक्ष भी स्वीकार करते हैं।[५] कभी सभ्यता को संस्कृति की बाह्य, कृत्रिम और परम्परित अवस्था माना गया है और कभी संस्कृति को गति, जीवन, विकास, सर्जनात्मक तथा सभ्यता को मरण, स्थिरता, जड़ता स्वीकार किया गया है। इस प्रकार वृत्तात्मक दृष्टि में सभ्यता संस्कृति की अनिवार्य परिणति है। एक सांस्कृतिक संचरण अपनी प्रौढ़ता के दौर के साथ अपनी सर्जन क्षमता की दृष्टि से मर जाता है, पर उसकी परम्परा विजड़ित मूल्यों की सभ्यता के रूप में चलती रहती है।[७] स्पेंगलर ने ऋतुओ के सास्कृतिक-क्रम के रूपक में विकास और सर्जन, स्मृद्धि और प्रौढ़ता की तीन स्थितियों को सस्कृति और ह्रास, स्थिरता और जड़ता की तीन स्थितियों को सभ्यता माना है। इन दृष्टियो को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है और दोनों में एक अन्तवर्ती सम्बन्ध भी स्थापित किया जा सकता है। पूरी एक सांस्कृतिक इकाई के समाज, राजनीति, अर्थनीति आदि बाह्य पक्षों का सम्बन्ध सभ्यता से माना जा सकता है और धर्म-भाव, साधना, अध्यात्म, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, साहित्य-कला के आन्तरिक पक्षों का सम्बन्ध संस्कृति से स्वीकार किया जा सकता है। इसका एक अर्थ हुआ कि सामाजिक आचरण, व्यवहार, रीति-रिवाज, संस्कार, रहन-सहन, खान-पान, राजनीतिक व्यवस्था, न्याय-व्यवस्था, शासन-व्यवस्था, नागरिक सुविधाएँ तथा आर्थिक संस्थाएँ और योजनाएँ सभ्यता के अन्तर्गत आती हैं। और नैतिक मूल्य, राजनीति के आदर्श, आर्थिक व्यवस्थाओं में निहित आदर्श कल्पनाएँ, धर्म-साधना, अध्यात्म, दर्शन, साहित्य-कला आदि के मूल्यों को सस्कृति के स्वीकार किया जाना चाहिए परन्तु इसका एक अन्य अर्थ

यह भी लिया जाता है कि सभ्यता के अन्तर्गत मानव जीवन के बाह्य पक्ष अर्थात् सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवन के मूल्यों की चेष्टा को मानना चाहिए और संस्कृति के अन्तर्गत धर्म, दर्शन, अध्यात्म तथा साहित्य-कला की सूक्ष्म मूल्य-चेतना को स्वीकार किया जाना चाहिए।

दूसरे वर्ग में जैसा उल्लेख किया गया है, सांस्कृतिक संचरण के पहले दौर को संस्कृति कहते है और दूसरे को सभ्यता। यहाँ पक्षों का विभाजन नहीं हैं, वरन् संस्कृति की सजीवता, उर्वरता, विकसनशीलता, सर्जनशीलता के युगों को संस्कृति के युग और प्रौढ़ होकर जर्जरता की ओर उन्मुख, परम्परित तथा विजड़ित युगों को सभ्यता के युग माना गया है। वस्तुत: दोनो के विभाजनों में संस्कृति को सभ्यता की अपेक्षा आन्तरिक, सूक्ष्म, सर्जनात्मक माना गया है। अत सर्जन और मूल्य की दृष्टि से संस्कृति अधिक सार्थक शब्द माना जा सकता है, क्योंकि बाह्य जीवन के पक्षों—राजनीति, नीति, समाज, अर्थनीति में जहाँ तक सर्जनात्मक तथा मूल्यपरक है, वह संस्कृत के अन्तर्गत स्वीकार किया जायगा। इसके अतिरिक्त बाह्य पक्ष की स्थितियो, अवस्थाओं, आचार-व्यवहारों, रीति-रिवाजों, व्यवस्थाओं, संस्थाओं और क़ानूनों के जो रूप और प्रचलन समाज में क्रियाशील होते है उन्हें सभ्यता के अन्तर्गत माना जा सकता है। इस प्रकार सभ्यता संस्कृति का वह रूप, अवस्था या स्थिति है जब और जहाँ उसकी सर्जनशीलता समाप्त प्राय हो जाती है और मूल्य केवल रूढ़ि, परम्परा तथा अनुकरण के रूप में समाज मे स्वीकृत होते हैं। आवश्यक नहीं है कि सर्जनशील मूल्यों का सांस्कृतिक चरण समाप्त हो जाय तभी परम्परा और रूढ़ि का सभ्यता-युग प्रारम्भ हो। समाज के प्रवाह के केन्द्र में सर्जनात्मक संस्कृति की धारा हो सकती है और विस्तार में सभ्यता को देखा जा सकता है। ऐसा भी हो सकता है, समाज किसी एक पक्ष से अथवा दिशा में संस्कृति की दृष्टि से सर्जनात्मक हो, पर उसके अन्य पक्ष अथवा दिशाएँ केवल सभ्यता के स्तर पर चल रहे हों। कुछ विचारकों ने इसीलिए यह भी माना है कि सभ्यता के अभाव में संस्कृति संचरित हो सकती है और दोनो मे विरोध भी हो सकता है।[८]

× × ×

विभिन्न इतिहास-दृष्टियों ने मानवीय जीवन-क्रम को किसी न किसी मूल्य के स्तर पर देखने की अथवा मूल्यों की अभिव्यक्ति के रूप में विवेचित करने की चेष्टा की है। मानवीय जीवन के घटना-क्रम को कितना ही वैज्ञानिक तथा तटस्थ दृष्टि से विवेचित करने का प्रयत्न किया गया हो, पर या तो यह इतिहास तथ्यों का कंकाल बन कर रह गया है अथवा कार्य-कारण की एक शृंखला मात्र जान पड़ता है। ऐसा भी है कि इस प्रकार के इतिहास में लेखक की दृष्टि या भाव उसको एक नया रूप-रंग प्रदान कर देता है। वस्तुत इतिहास का यह स्वरूप इतिहासकार की मूल्य-दृष्टि से अनुरंजित हो जाता है। अत: यह निरन्तर अनुभव किया जाता रहा है कि मानव जीवन को सर्जनात्मक प्रक्रिया के रूप में देखना ही सार्थक है, और उसके इतिहास को मूल्यों की गत्यात्मक क्षमता और उसके प्रतिफलन की दृष्टि से ही विवेचित किया जाना चाहिए। यह विचार जितने स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है और जिस प्रकार उसे स्वीकृति मिलती गई है, इतिहास की विभिन्न समाज

जातियों, वृत्तों और युगों की सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में व्याख्यायित तथा निरूपित करने का आग्रह बढ़ता गया है।

प्रारम्भ में इतिहास-चिन्तन की परम्परा पर विचार करते हुए कहा गया है कि मानव-जीवन के प्रवाह को मनुष्य ने सदा अपनी मूल्य दृष्टि से देखा है और अपनी सर्जनशीलता के आधार पर विवेचित करने का प्रयत्न किया है। इसको आधुनिक युग के चिन्तकों ने इतिहास का सांस्कृतिक संचरण माना है और विभिन्न संस्कृतियों, उनके वृत्तों तथा युगों के विवेचन में सर्जनशीलता के क्षेत्रों तथा मूल्यों के स्तरों का विवेचन किया है। विको जसे विचारक ने १७वी शती में मानवीय इतिहास को विविध क्षेत्रों में मनुष्य की सर्जन क्षमता की अभिव्यक्ति के रूप में ग्रहण किया था। काण्ट द्वारा मानव स्वतंत्रता की व्याख्या और बौद्धिक, नैतिक तथा आत्मिक प्रगति की प्रतिष्ठा में संस्कृति की मूल्य-दृष्टि निहित है। रूसो जैसे रोमेण्टिक युग के विचारकों की स्वतंत्रता, समानता और स्वच्छन्दता सम्बन्धी धारणा में व्यक्तित्व के मूल्यों की प्रतिष्ठा है। इनमें शीलर आदि राजनीतिक व्यवस्था के स्थान पर सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा कलात्मक मूल्यों पर बल देते हैं। हेगल मानव की स्वतंत्र चेतना तथा बौद्धिक विकास को महत्त्व देते हैं। हुम्बोल्ट ने मानवीय भावों और प्रत्ययों को उसकी मूल्य-प्रक्रिया में आधार भूत माना है और ज्ञान-विज्ञान, साहित्य-कला, नियम-व्यवस्था को इनसे परिचालित माना है। उग्र राष्ट्रवाद के कारण राष्ट्र और जाति को भी मूल्यों का स्रोत अथवा आधार माना गया। ट्रायसन ने स्वतत्रता और नैतिकता के मूल्यों के आधार पर मानव-प्रगति को विवेचित किया। मिशले की दृष्टि मनुष्य के विकास मे निहित आध्यात्मिक द्वंद्व पर गई है। गीजों जैसे विचारक भी हैं जो १९वीं शती मे भी नैतिक-धार्मिक मूल्यों को जीवन का आधार और उन्हें प्रगति में परिलक्षित मानते हैं। कारलाइल ने वीर-पूजा की मूल्य-दृष्टि को इतिहास में समर्थन दिया, और इससे मानवीय नैतिकता के विकास को गतिशील माना। एक्टन ने भी धार्मिक नैतिकता को मूलभूत माना है और स्वतंत्रता से नैतिक उन्नयन की सम्भावना स्वीकार की है। मार्क्सवादी चिन्तन ने आर्थिक व्यवस्था को समाज के आधार में मान कर मूल्य-दृष्टि का निर्धारण किया है। बुर्कहार्द ने संस्कृति में मनुष्य के व्यक्तित्व की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, बौद्धिक तथा नैतिक अभिव्यक्तियों को महत्त्व प्रदान किया है, इस प्रकार विभिन्न क्षेत्रों में उसकी सर्जन-प्रक्रिया और उसके मूल्य-बोध पर बल दिया गया है। अन्य कतिपय विचारकों के समान बर्गसाँ व्यक्तियों की विशिष्टता को संस्कृति की मूल्य-प्रक्रिया के आधार में मानते हैं, क्योंकि ये 'सर्जनशील आत्माएँ' हैं। ब्रेडले ने भावनाओं तथा संवेदनाओं से अभिव्यक्त अनुभव को व्यक्तित्व में महत्त्व दिया, तो ओकशोट ने उसमें विचार, चिन्तन, तर्क-क्षमता आदि को स्वीकार किया। यह व्यक्तित्व वस्तुतः निर्माण और विकास को गतिशील करता है। कालिंगवुड के अनुसार मनुष्य की विचार क्षमता ही सर्जन प्रक्रिया को गति देती है और संस्कृति के मूल्यों की उपलब्धि में साधक होती है। क्रोचे के चिन्तन में इतिहास सत्यानुभूति की अभिव्यंजना रूप में कला के समकक्ष है। उनके अनुसार मनुष्य अपने इतिहास जीवन क्रम) के बारे में केवल रूप में विचार कर सकता है, अत

मानव इतिहास केवल मनुष्य की सृजनशील मूल्य प्रक्रिया के रूप में समझा जा सकता है अर्थात् वह सास्कृतिक चेष्टा है।

अब तक जिन विचारकों के सन्दर्भ प्रस्तुत किये गए हैं उन्होंने मानव-इतिहास में मूल्यों के सर्जनात्मक रूप का निर्देश किया है और इस प्रकार सांस्कृतिक संचरण के रूप को क्रमशः स्पष्ट करने का कार्य किया है। वस्तुतः इस चिन्तन की परम्परा का ही परिणाम संस्कृतियों की व्याख्या, उनके गति-निर्धारण और उनकी मूल्यगत विवेचना में प्रतिफलित हुआ है। संस्कृतियों के युगों की चर्चा में इतिहास दार्शनिकों ने मूल्यो का आधार स्वीकार किया है। दानिलेव्सकी ने स्वतंत्रता की भावना के साथ मध्य युग के सांस्कृतिक उत्थान को स्वीकार किया है। और माना है कि आधुनिक युग में मनुष्य अपनी सर्जन क्षमता से अपने जीवन के विविध पक्षों के मूल्यों की उपलब्धि करता है। स्पेंगलर ने संस्कृति के विकास-क्रम में जन्म-विकास जरा-मरण का जो रूप देखा है, उसमें मूल्यों की रचना, स्थिति, जड़ता, परम्परा और विघटन आदि का मौलिक आधार है। ट्वायनबी मानते है संस्कृति के विकास में मूल्य-प्रक्रिया आन्तरिक सन्तुलन और नियमन के आधार पर सूक्ष्मीकरण की ओर प्रवृत्त होती है। वे सामाजिक एकता, सामूहिकता तथा समस्तरीयता को सांस्कृतिक उन्नयन में महत्त्व देते है। उन्होंने आत्म-नियंत्रण, आत्म-त्याग, आत्म-बलिदान, पाप-चेतना, तटस्थता, पुराणपंथ और आत्म-परिवर्तन आदि का विचार आध्यात्मिक मूल्यों के प्रसंग में किया है। उन्होंने सांस्कृतिक क्रम में 'उच्च दर्शन' और 'उच्च धर्म' के मूल्यों की स्थिति पर प्रकाश डाला है। समन्वय-प्रधान धर्म को मूल्य के स्तर पर वे मानव भविष्य की आशा और सम्भावना के रूप में स्वीकार करते हैं। सोरोकिन की भावमूला सस्कृति में श्रद्धा, शाश्वत सत्य, आध्यात्मिक तत्त्व का महत्त्व होता है, और इस कारण मनुष्य के जीवन में संन्यास, निर्वाण और मोक्ष आदि मूल्यों की मान्यता होती है। प्रत्यक्षमूला सस्कृति में अनुभव, प्रत्यक्ष बोध, बुद्धि के आधार, भौतिक समृद्धि, सम्पन्नता, ऐश्वर्य-विलास को मान्यता मिलती है। भावमूला संस्कृति के युग में कला प्रतीकात्मक होती है, पर प्रत्यक्षमूला संस्कृति में कला अनुकरण-प्रधान हो जाती है। आदर्शमूला संस्कृति में आध्यात्मिक तथा भौतिक मूल्यों का समन्वय होता है।

टर्नन के अनुसार नागरिक संस्कृति के पूर्व संस्कृति के चरणों में सामाजिक और सामूहिक जीवन के मूल्यों का विकास मात्र सम्भव था, ज्ञान-विज्ञान, दर्शन, धर्म, कला सम्बन्धी मूल्यों की प्रक्रिया संस्कृति के नागरिक रूप में ही सम्भव है। शुबार्त ने संस्कृति के चक्र में सामंजस्य, शक्ति, त्याग और रक्षा के आधार पर मूल्यगत सर्जनशीलता को सक्रिय माना है। प्रेम, समन्वय और समष्टि भाव संस्कृति के अमृत तत्त्व माने गये हैं। बेर्दिएव के अनुसार सांस्कृतिक उत्थान के युग में सर्जन-क्षमता बढ़ जाती है। और उसकी अभिव्यक्ति में उपयोगिता का स्थान मूल्य-बोध प्रधान रहता है। सत्य, शिव और सुन्दर मूल्यों की निरपेक्ष कामना की जाती है। परन्तु संस्कृति के ह्रास-युग मे उपयोगिता का दृष्टि-कोण जीवनाकांक्षा को इस सीमा तक बढ़ा देता है कि पिछले मूल्यों को भौतिक जीवन की सुख-समृद्धि के उपकरणों के रूप में ग्रहण किया जाता है

तब कला का सौन्दर्य, विज्ञान का शुद्धि ज्ञान, चिन्तन का सूक्ष्म रूप, ईश्वरीय कृपा, अभिव्यक्ति का आनन्द स्वत: में सर्जनशील न रह कर भौतिक जीवन के लिए शोभा और उपयोग की वस्तु बन जाते हैं। क्रोएबर मानते हैं संस्कृति के विकास के पहले चरण मे धर्म, दूसरे में कला और तीसरे में विज्ञान की उन्नति होती है। श्वाइत्जर प्रेम तथा आस्था पर प्रतिष्ठित नैतिकता को संस्कृति का चरम लक्ष्य मानते है। मूल्यों की सर्जनात्मक गति और दिशा का संकेत भी इसीसे मिलते हैं। वस्तुत: विभिन्न विचारकों ने संस्कृति के संचरण की अपनी कल्पना और धारणा के अनुसार मूल्यों के बारे में अपना मत व्यक्त किया है। जो संस्कृतियो में विकास-क्रम मानते हैं, वे मूल्यों के स्तर पर क्रमश: अधिक सूक्ष्मता और सर्जनशीलता देते हैं। उनके अनुसार संस्कृति की प्रक्रिया में प्रवृत्ति बाह्य से आन्तरिक, स्थूल से सूक्ष्म, उपयोगी से सर्जनात्मक मूल्यों के विकास की होती है। एक उच्च और प्रौढ स्तर पर पहुँच कर संस्कृति में मूल्यो में विघटन, स्थिरता और जड़ता आने लगती है। परन्तु जो विचारक मानते हैं कि संस्कृति का दूसरा चक्र पुन: पूर्ववर्ती संस्कृति के विघटन से प्रवर्तित होता हैं, उनके अनुसार पूर्व संस्कृति के मूल्यों (जो शाश्वत माने गये है या सार्थक स्वीकार किये जाते हैं) का सर्जनात्मक प्रयोग दूसरी संस्कृति में भी होता है। जो विचारक संस्कृति-क्रम को बहुपक्षी और सह-अस्तित्व वाला मानते है, उनके अनुसार मनुष्य जीवन के विविध पक्षों के मूल्य युग के अनुसार अपने-अपने पक्ष पर बल देते हुए सर्जनशील होते हैं।

× × ×

संस्कृति के विचारकों ने विभिन्न संस्कृतियों की प्रमुख विशेषताओं की चर्चा मे मूल्य-दृष्टि का आधार लिया है। दानिलेव्स्की के अनुसार यूनानी संस्कृति सौन्दर्यानुभूति और सौन्दर्याभिव्यक्ति में अपना लक्ष्य अन्वेषित करती है; यूरोप की आधुनिक संस्कृति विज्ञान की उन्नति के साथ गतिशील है, भारतीय संस्कृति के मूल में रहस्य और अध्यात्म की कल्पना निहित है, चीनी संस्कृति में उपयोगिता का व्यावहारिक दृष्टिकोण परिलक्षित है, शामी संस्कृति धर्माश्रित है और रोमीय संस्कृति क़ानून और व्यवस्था से संचालित रही है। विभिन्न संस्कृतियों की सर्जनशीलता इस प्रकार विभिन्न क्षेत्रों में सक्रिय होती है। और प्रत्येक संस्कृति की वैयक्तिक विशिष्टता से उसकी सामाजिक व्यवस्थाएँ, नैतिक आदर्श, आर्थिक पद्धतियाँ, राजनीतिक प्रणालियाँ, दार्शनिक चिन्तन, धार्मिक साधनाएँ और कलात्मक अभिव्यक्तियाँ प्रेरित तथा प्रभावित होती हैं। जो संस्कृति अपने विभिन्न पक्षों में सर्जनात्मक हो सकेगी, वही विश्व के भविष्य की आशा होगी। स्पेंगलर संस्कृति के चक्र-प्रवर्तन में सर्जन के विविध पक्षों की अभिव्यक्ति के स्तरों और मूल्यों की विविध स्थितियों की चर्चा तो करते ही हैं, उन्होंने विभिन्न संस्कृतियों की वैयक्तिक विशिष्टताओं का उल्लेख भी किया है। चीनी संस्कृति की विशिष्टता प्रकृति के वैविध्यपूर्ण क्रम और शैली का जीवन शैली (ताओ) के रूप में ग्रहण करने में देखी जा सकती है। इसीलिए चीनी अभिव्यक्ति में जीवन के समान प्रकृति का अनुकरण है। भारतीय संस्कृति का वैशिष्ट्य अनन्त और शाश्वत की है। जिनकी मूल्यगत अभिव्यक्ति

धर्म-साधना के निर्माण, मोक्ष, ब्रह्मानन्द तथा लीलानुभव आदि में होती है। शामी संस्कृति के मूल में सत्य-असत्य, प्रकाश-अन्धकार की द्वंद्व-भावना है, जिसकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति समष्टि और रहस्य भावनाओं में सम्भव हो सकती है। मिस्र की संस्कृति स्थायी तथा अमर तत्त्व की खोज में संलग्न रही है। और उसकी अभिव्यक्ति में प्राथमिक प्रतीक पाषाण रहा है। अपोलोनियन संस्कृति में प्रत्यक्ष, मूर्त और शरीर का महत्त्व रहा है जिनके आदर्शों को उसकी मूर्तियों, काव्य-रूपों और ज्ञान-विज्ञान में व्यंजित देखा जा सकता है। फ़ाउसात्रियन में इसकी तुलना में अमूर्त, असीम और काल की अनन्तता की भावना सर्जन की चेतना में गतिशील हुई है, जिनकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति उसके स्थापत्य, संगीत और चित्रकला में देखी जा सकती है।

सोरोकिन ने विभिन्न संस्कृतियों के वैशिष्ट्य को प्रत्यक्षमूला, भावमूला, और आदर्शमूला कह कर अभिहित किया है। प्रथम पाषाण युग प्रत्यक्षमूला संस्कृति का युग था, दूसरा भावमूला संस्कृति का। मिस्री संस्कृति में इन चरणों का प्रत्यावर्तन हुआ है। चीन में बौद्ध-धर्म और ताओ-धर्म भावमूला संस्कृति के पक्ष थे, पर कन्फ़्यूशियस के युग में आदर्शपरक संस्कृति के प्रतीक व्यंजित हुए हैं। अगले युगों में पुनः इनका प्रवर्तन देखा जा सकता है। भारतीय संस्कृति की मुख्य रूप से अभिव्यक्ति भावमूला प्रतीकों में हुई है। यूनानी संस्कृति भावमूला, प्रत्यक्षमूला और आदर्शमूला चरणों से गुजरती रही है। रोमीय संस्कृति पर प्रत्यक्षमूला यूनानी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का प्रभाव रहा है। यूरोप की ईसाई संस्कृति भावमूला प्रतीकों में ही अधिक अभिव्यक्ति हुई है। बाइज़ेन्तियम प्रभाव के साथ इस संस्कृति में प्रत्यक्ष प्रतीकों का समावेश हो गया। यूरोप मे संस्कृति का यह संचरण तीन बार प्रत्यावर्तित हुआ है। इन विचारकों का भाव यह रहा है कि संस्कृति विशेष में अथवा संस्कृति के चरण विशेष में सर्जनशीलता तथा मूल्यचेतना का एक विशेष दृष्टिकोण रहता है, जो उसके अन्य सभी पक्षों की सर्जनात्मकता को प्रभावित करता है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि संस्कृतियाँ बहुकक्षीय और अनेक स्तरों पर गतिशील नही होती है, उनमें जीवन के अन्य पक्षों के मूल्य परिलक्षित नहीं होते हैं।

कुछ विचारक संस्कृतियों का सम्बन्ध समाज के विशिष्ट वर्गों से जोड़ते हैं। मार्क्स तथा ऐंगेल्स विकास की दृष्टि को एक स्तर पर स्वीकार करके भी संस्कृति को अन्यों के समान मूल्य अवधारणा नहीं मानते हैं, क्योंकि उनके अनुसार चेतना और प्रत्यय भी वस्तुस्थितियो के सम्बन्ध में ही ग्रहण किये जा सकते हैं। सामाजिक सत्ता के भौतिक सम्बन्धों की एकता समाज का आर्थिक ढाँचा निर्मित करती है, जिस मौलिक आधार पर समाज की चेतना को निरूपित करने वाले नियमों, व्यवस्थाओं तथा आदर्शों का रूप निर्धारित होता है। इस समाज का वर्गों का विभाजन राजनीति, नैतिकता, धर्म, दर्शन तथा कला आदि संस्कृति की विभिन्न दृष्टियों तथा विचार-पद्धतियों को विकसित करता है। संस्कृति की प्रगति वर्ग विशेष पर आधारित होती है, और उसको संचालित करने वाला वर्ग प्रायः शासक वर्ग रहा है। मार्क्स की स्थापना में आंशिक सत्य माना जा सकता है, पर मानवीय संस्कृति के सर्जनात्मक रूप को इसके द्वारा व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। अनेक सांस्कृतिक आन्दोलन सामान्य जनता के द्वारा चलाए गये हैं अनेक धार्मिक सामाजिक नैतिक मूल्यों का अनुसन्धान स्वाधीन

चेताओं ने किया है। दर्शन, कला और साहित्य के क्षेत्रों के विकास में अनेक बार साधारण जनता, सामान्य व्यक्तियों का अधिक हाथ रहा है।

इलियट ने दूसरे ढंग से संस्कृति को वर्गमूलक माना है। इलियट व्यक्ति संस्कृति को वर्ग संस्कृति पर और वर्ग संस्कृति को समाज की संस्कृति पर आधारित मानते है। परन्तु वर्ग संस्कृति अपनी विशिष्टता में समाज की संस्कृति से अलग की जा सकती है, जबकि व्यक्ति संस्कृति को वर्ग संस्कृति से अलग नहीं माना जा सकता। वे संस्कृति के निर्माता तथा उसके सर्जन की उपलब्धियों के भोक्ता शिष्ट वर्ग की कल्पना करते हैं, जो उसे गतिशील रखने के लिए आवश्यक है। इस वर्ग में अन्य वर्ग के लोग भी आ सकते हैं और अन्ततः उसके अंग बन सकते है। पर इस शिष्ट वर्ग की स्थिति अनिवार्य है, क्योंकि शिष्ट और संस्कृत जीवन-व्यवहार के रूपों तथा प्रतिमानों की रक्षा इसी वर्ग के द्वारा संभव है। फिर इलियट इस वर्ग का सम्बन्ध अतीत के महापुरुषों से श्रद्धा के स्तर का मानते हैं। मूल्य-चेष्टा को गतिशील अभिजात वर्ग ही रख सकता है। स्पेनी लेखक आर्टीका गैसेट ने भी संस्कृति के विशिष्ट मान-दण्डों का निर्धारण शिष्ट वर्ग के द्वारा ही माना है। परन्तु वे यह भी मानते है कि अभिजात वर्ग अपने आलस्य तथा उन्माद में अपनी सर्जन-क्षमता खो देता है।

× × ×

अभी तक सांस्कृतिक दृष्टि के विकास और संस्कृति के सर्जनशील तथा मूल्य-बोध परक चिन्तन का विवेचन किया गया है। परन्तु संस्कृति सर्जनात्मक मूल्य-प्रक्रिया अथवा मूल्यो की सर्जन-प्रक्रिया के रूप में क्यों मानी जाय, इस प्रश्न पर विचार करना है। मनुष्य जीवन को भौतिक-सामाजिक सम्बन्धों के सरलतम से लेकर जटिलतम रूपों, बाह्य तथा आन्तरिक प्रतिक्रियों, सूक्ष्म तथा गहन मानसिक स्थितियों और इन सबकी भाषिक प्रतीकों-प्रत्ययो मे अभिव्यक्ति के अर्थ में ग्रहण किया जा सकता है। परन्तु इस प्रकार के सम्बन्धों के कार्य कारण अथवा आपेक्षता में मनुष्य जीवन को पूरी तरह व्याख्यायित नही किया जा सकता है। सम्बन्ध की इन भूमिकाओं का वह अतिक्रमण कर अन्य भूमिकाओं में संचरण करता है। ज्ञान की समाजशास्त्रीय अथवा वैज्ञानिक व्याख्याओं से मनुष्य जीवन की पूरी अर्थवत्ता को समझना सम्भव नहीं है। मनुष्य अपने अस्तित्व के स्तर से जीवनोपयोगी कार्यों में अपनी ऊर्जा को खर्च करने के बाद बची हुई उर्जा का सजग रूप में शारीरिक-मानसिक सुखानुभूति के लिए प्रयोग करने लगा था। यह अवश्य है कि इस आदिम अवस्था में इस प्रकार की क्रियाओं को क्रीडा और उपयोगिता में स्पष्टतः विभाजित करना कठिन है। पर इतना माना जा सकता है कि इन क्रीड़ाओं में जिस प्रकार सर्जन की अन्तर्वृत्ति क्रियाशील है, उसी प्रकार मूल्य-बोध का संस्कार भी अन्तर्निहित है। इसी स्तर पर मनुष्य अपनी जीवन-स्थितियों को इस प्रकार निर्मित करने की चेष्टा करता रहा है, जिससे वह अपनी मौलिक आवश्यकताओं को पूरा करने मे स्वतन्त्रता का अनुभव कर सके। आगे यह सुरक्षा का भाव भविष्योन्मुखी भी हुआ। क्रमशः इसी आधार पर समाज-व्यवस्था, न्याय-व्यवस्था तथा वर्ग-व्यवस्थाओं का विकास हुआ। इनके साथ स्वतंत्रता- न्याय सत्य सहयोग- सेवा आदि के मूल्य रूप सामने आये। इस स्तर पर मूल्यों का यह रूप रहा है, क्योंकि इनकी क्रिया स्थितियो में उपयोग का

दृष्टिकोण निहित था। इसको संस्कृति का सभ्यता पक्ष भी कहा जा सकता है। परन्तु सांस्कृतिक मूल्य को इनसे बिल्कुल अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि उपयोगिता के साथ इनके अनुभव और इनकी परिकल्पना का एक दूसरा आयाम भी है। एक स्तर पर इन संस्थाओं और मूल्यों की वांछनीयता इस बात पर निर्भर करती है कि मनुष्य इनकी कामना किसी उद्देश्य से करता है। परन्तु वह उनका अनुभव तथा कल्पना इस रूप में भी करता है कि वे स्वयं में वांछनीय हैं। इस प्रकार सभ्यता और संस्कृति एक दूसरे पर आश्रित हैं और एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। कला-कौशल, भौतिक उपकरण, व्यवस्थाएँ और संस्थाएँ मनुष्य को स्वतंत्र और सुरक्षित अनुभव करने में सहायक होते हैं, अतः मूल्य रूप में इनको माना जा सकता है। यह अलग बात है कि ये मूल्य साधन परक हैं, जबकि स्वतंत्रता और व्यवस्था की भावात्मक या सर्जनात्मक अनुभूति साध्यपरक मूल्य है।

साधारणतः मनुष्य का जीवन भौतिक तथा सामाजिक भूमिकाओं पर संचरण करता है, ऐसा मान कर उसके जीवन की उपयोगिता और अर्थवत्ता इन सन्दर्भों में विवेचित की जाती है। इन भूमिकाओं पर जैसा कहा गया है, मनुष्य सर्जनशील है और उसने मूल्यों की उपलब्धि भी की है। ऐसा भी है कि वैज्ञानिक विकास में तथा मानव जीवन के विभिन्न पक्षों के चिन्तन में सर्जनात्मक मूल्यों की अभिव्यक्ति भी हुई है, जो अपने आप में वांछनीय तथा मूल्यवान् है। अनुभूति और अभिव्यक्ति का यह स्तर मूल्य की सर्जनशीलता का तीसरा आयाम माना जा सकता है। इन भूमिकाओं से सम्बन्धित प्रेम, सेवा, सहानुभूति, न्याय आदि मूल्य ऐसे ही हैं। परन्तु इन भूमिकाओं का मनुष्य अतिक्रमण करता है। वह अहं से अस्तित्व के प्रश्न पर जाता है, यथार्थ से सत्य के प्रश्न तक पहुँचता है। वह व्यष्टि और समष्टि के चिन्तन से आत्मा और ब्रह्म की परिकल्पनाएँ करता है। अनुभूति की इस भूमिका पर मनुष्य सौन्दर्य, सत्य, शिव, आनन्द जैसे सर्जनात्मक मूल्यों का साक्षात्कार करता है। मानवीय क्रियाओं में व्यक्त होने वाले साधनमूलक मूल्यों की अपेक्षा ये मूल्य स्वतः मनुष्य की विशिष्ट अर्थात् शुद्ध सर्जनात्मक क्रियाएँ हैं। ये उपयोगिता विहीन होकर भी अर्थ-पूर्ण वास्तविक अनुभव रूप हैं। परन्तु जैसा उल्लेख किया गया है यह सर्जनात्मक मूल्य-प्रक्रिया साधनपरक उपयोगी मूल्य-चेष्टाओं के साथ चलती रहती है। स्थापत्य जैसी कलाओं तक में सभ्यता और संस्कृति की इन मूल्य-दृष्टियों का संयोजन देखा जा सकता है। यह अलग बात है स्थापत्य कला की उच्चतम अभिव्यक्ति आवास भवनों की अपेक्षा देव मन्दिरों तथा स्मृति गृहों में अधिक होती है। डॉ० देवराज के अनुसार विश्व की निरुपयोगी किन्तु अर्थवती छवियों से प्रत्यक्ष अथवा कल्पना के स्तर पर सम्बन्ध स्थापित करने वाली समस्त क्रिया को संस्कृति कहा जा सकता है। और यह सांस्कृतिक चेतना अपनी सर्जनशीलता में सार्वभौम और निर्वैयक्तिक रूप में अभिव्यंजित होती है।

इस प्रकार संस्कृति के क्षेत्र में दो प्रकार के मूल्यों की चर्चा की गई है—साधन-परक और चरम मूल्य। कहा गया है कि चरम मूल्य निरपेक्ष होते हैं अर्थात् वे स्वतः मूल्यवान हैं। अन्य मूल्यों की स्थिति इन मूल्यों की सापेक्षता में निरूपित की जाती है परन्तु स्वत काम्य क्रियाओ या व्यापारो के सचेत रूप को चरम मूल्य कहने से नही आती है और कोई

भी सचेत क्रिया मात्र वांछनीय हो जाने से सार्वभौम संवेदना को सार्थक नहीं बना सकती। यह क्रिया सर्जनात्मक होकर मूल्य-बोध के निर्वैयक्तिक और सार्वभौम संवेदन को अभिव्यक्त करती है और उसकी सार्थकता सर्जनशील होने में ही है। जहाँ तक ऐसी वस्तुओं, परिस्थितियों, चरित्रों तथा अनुभूतियों का सवाल है जो इस प्रकार की मूल्यवान सर्जन-प्रक्रिया को सचेत गति और दिशा प्रदान करती हैं, वे कृति या रचना रूप में पुनर्सर्जन का आधार प्रस्तुत करने के कारण स्वतः मूल्य रूप मानी जाती हैं। इसी प्रकार चरम की अवधारणा विषय और विषयि दोनों पर आधारित है। सर्जनशीलता में विषय का उतना ही महत्त्व है, जितना उस पर क्रियाशील विषयि का। क्योंकि मनुष्य अपने इन सर्जनात्मक अनुभवों को प्रत्ययों, प्रतीकों, अमूर्तनों, बिम्बों आदि में अभिव्यक्त करता है, अतः उसके सांस्कृतिक संचरण में यथार्थ के अनेक प्रतीकात्मक प्रतिरूप विविध क्षेत्रों—धर्म, साधना, अध्यात्म, दर्शन, कला आदि में व्यंजित होते रहते हैं। रचनाशीलता के कारण ही इसमें कल्पना का महत्त्व है, क्योंकि कल्पना यथार्थ की नई सृष्टि करती है। इस प्रकार कल्पना के सहारे मनुष्य का अनुभव प्रतीकात्मक सर्जन कर्म में समर्थ होता है और जिस सीमा तक यह सर्जन प्रक्रिया मूल्य-बोध की निरन्तरता, निर्वैयक्तिकता तथा सार्वभौमिकता को बनाये रखने में समर्थ होती है, उस सीमा तक वह संस्कृति की सम्पन्नता और समृद्धि का परिचय देने में सफल होती है।

× × ×

सांस्कृतिक प्रक्रिया को एक ओर मूल्यवान तथा अर्थवान माना गया है, दूसरी ओर उसे निरूपयोगी और निरपेक्ष भी माना गया है। मूल्यवान होकर किसी क्रिया का निरूपयोगी होना अथवा अर्थवान होकर क्रिया का निरपेक्ष होना विरोधाभास लगता है। पर ऊपर की चर्चा के प्रकाश में कहा जा सकता है कि सांस्कृतिक मूल्य मनुष्य के सामाजिक और भौतिक जीवन की अपेक्षा में उपयोगी नहीं है। उनकी अर्थवत्ता देश-काल में सीमित नहीं है। मनुष्य इन वृत्तों से निकल कर अपने अस्तित्व का विस्तार करता है, सृष्टि के विस्तार का अनुभव करना चाहता है, अदम्य जिज्ञासा से विश्व की ओर उन्मुख होता है और अपने अनुभव को समृद्ध करना चाहता है। इसी चेष्टा में ऐसे मूल्यों का अन्वेषण करता है जो उसके अस्तित्व को विस्तार दें, अनुभवों को समृद्ध करें और यथार्थ के ज्ञान को गहरा और सूक्ष्म बना सकें। जीवन व्यापार के लिए उपयोगी क्रियाओं के अतिरिक्त अन्य ऐसी मानवीय क्रियाएँ भी है जिनका उससे सीधा सम्बन्ध नहीं है और जो मूल्यों के सांस्कृतिक स्तर पर संचरण करती है। ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्रों में मानवीय बोध सर्जनात्मक है, क्योंकि यह प्रत्ययपरक ज्ञान और उसका प्रतीकात्मक अनुभव अपने आप में सार्थक तथा मूल्यवान है। इस स्तर पर यह प्रक्रिया संस्कृति रूप है। जहाँ यह ज्ञान-विज्ञान मानव जीवन के लिए उपयोगी होते हैं, उनका उपयोग स्वतंत्रता तथा सुरक्षा के लिए किया जाता है, वहाँ साधनपरक मूल्यों की स्थिति भौतिक जगत् में प्रतिफलित होती है। यथार्थ को पूर्णता में जानने की बौद्धिक चेष्टा, उसके की बौद्धिक तथा प्रतीतियों और उसकी अनुभूतियों की सरचना में मू यों की निरपेक्ष मर्थवता इसीलिए है कि यह मानसिक प्रक्रिया का समस्त स्तर

सर्जनात्मक है। सर्जन कर्म स्वतःचालित, निरपेक्ष और मूल्य-बोध का ऐसा स्तर है जो अपना लक्ष्य स्वयं है।

ज्ञान-विज्ञान की अपेक्षा धर्म, दर्शन, साधना सम्बन्धी मानवीय क्रियाओं की उपयोगिता उसके जीवन व्यापारों के लिए और भी कम है। इस प्रकार ये क्रियाएँ अधिक निरपेक्ष और निरुपयोगी मूल्य चेष्टाएँ अर्थात् सांस्कृतिक क्रियाएँ हैं। इन क्रियाओं में व्यंजित मूल्य उसी सीमा तक अस्तित्व में रहते हैं, जहाँ तक वे सर्जनात्मक हैं। क्योंकि इनका जीवन उपयोगिता का पक्ष होता ही नही है, अतः इन मूल्यों का साधनपरक रूप कल्पित नहीं किया जा सकता। अपनी सर्जनशीलता से अलग ये मूल्य मात्र सिद्धान्त, परम्परा तथा रूढ़ियाँ रह जाते हैं। परन्तु साहित्य और कला के क्षेत्र में मूल्यो की यह स्थिति किंचित भिन्न है। अन्य क्षेत्रो में मूल्य और सर्जनशीलता में गहरा और आन्तरिक सम्बन्ध स्थापित किया गया है, पर साहित्य-कला में मूल्य तथा सर्जन अभिन्न हैं। वहाँ मूल्यों की स्थिति अलग और स्वतंत्र नहीं है, सर्जन की पूर्णतः और निरन्तरता के अतिरिक्त मूल्य का कोई रूप या स्थिति नहीं है। इस सर्जन में कल्पना के द्वारा नये अनुभव प्रतिरूपो के यथार्थ-जगत् कीरचना होती है। इस सर्जन का प्रभाव हमारे मूल्य बोध को अधिक व्यापक, गहरा तथा सूक्ष्म करता है, अतः हमारी समस्त सांस्कृतिक चेतना परिपक्व तथा समृद्ध होती है। परन्तु साहित्यिक अभिव्यक्ति में मूल्यों की एक भिन्न स्थिति भी परिलक्षित होती है। सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रो के मूल्य साहित्य की सर्जनशीलता में अनुभव के अंग बन जाते हैं। और स्तर पर इन मूल्यों को उनकी शुद्ध सर्जनात्मक प्रक्रिया में देखा जा सकता है।

अन्त में प्रश्न उठता है कि संस्कृति के सन्दर्भ में मूल्यों का प्रतिमान क्या है? अभी तक प्रतिपादित किया गया है कि संस्कृति सर्जनात्मक मूल्य-चेतना है, यह चेतना मनुष्य के सम्पूर्ण ज्ञान तथा अनुभव में यथार्थ और सम्भाव्य को सार्थक पर निरपेक्ष रूप में ग्रहण करती है। वस्तुतः इन मूल्यों के लिए मनुष्य कामना करता है, उनको उपलब्ध करने या उनके अनुभूत करने की सम्भावना में वह जीता है। यदि इन मूल्यों के मानदण्ड के बारे में विचार करना होगा तो देखना होगा कि मनुष्य की सांस्कृतिक चेष्टाओं को ये किस स्तर पर क्रियाशील करने में समर्थ होते हैं, इनके अनुभावन में वह किस सीमा तक समृद्ध होता है और उनकी उच्चतम सम्भावनाएँ क्या हैं। ये मूल्य मनुष्य को जितनी गरिमा, महानता, विराटता, आनन्द तथा सौन्दर्य प्रदान करने में सक्षम होते है, सांस्कृतिक दृष्टि से उनका उतना ही महत्त्व है। इस महत्त्व पर ध्यान देने से स्पष्ट होता है कि सांस्कृतिक प्रक्रिया का आधार सर्जन-प्रक्रिया है, जो मूल्यों को रूपायित और अनुभूत एक साथ करती है। मूल्य को सर्जन से अलग करके उसके सही महत्त्व को आंका नहीं जा सकता, अर्थात् सर्जनशीलता के साथ ही मूल्य महत्ता को प्रतिपादित किया जा सकता है। मूल्य की अर्थवत्ता के साथ निरपेक्षता का निर्धारण सर्जन से ही होता है, क्योंकि इस अर्थवत्ता का अभिप्राय यही है कि सर्जन रूप में ही सार्थक होना, परिणाम या प्रतिफलन की अपेक्षा का न होना अत संस्कृति की चेष्टा के प्रतिमानों का निर्णय सर्जन की अपेक्षाओं के आधार पर किया जा सकता है

संस्कृति में सर्जन के रूप में यथार्थ की अनन्त सम्भावनाओं की खोज निहित है। जिस प्रकार रचनाकार यथार्थ की अन्तर्दृष्टि से इन सम्भावनाओं की सृष्टि करने में समर्थ होता है, यह दृष्टि सांस्कृतिक मूल्य-सर्जन को प्रामाणिकता तथा प्रौढ़ता प्रदान करती है। सर्जन कल्पना सास्कृतिक चेष्टा को यथार्थ के आधार पर रचनाशील करती है, अतः मूल्यों की समस्त उद्भावना यथार्थ की इस कल्पना से सम्भव हुई है। यह अवश्य है, सर्जन के स्तर पर यह अनुभव निर्वैयक्तिक है। अपनी निर्वैयक्तिकता में मानवीय अनुभवों का यह आयाम देश-काल, जाति-राष्ट्र, मानवता की सीमाओं की बृहत्तर सीमाओं का स्पर्श करते हुए उनका अतिक्रमण करता है। सांस्कृतिक मूल्य-बोध इस प्रकार उच्चतर-उच्चतम भूमियों पर होता हुआ सार्वभौम माना जाता है। सामाजिक मूल्यों से लेकर आध्यात्मिक मूल्यों तक सर्जन की इन उच्चतर होती हुई मूल्य-भूमिकाओं को संस्कृति के संचरण में देखा जा सकता है। संस्कृति की सर्जन-क्षमता और उसके मूल्य-बोध के विकास में परम्परा अथवा इतिहास-दृष्टि का महत्त्वपूर्ण योग रहता है। परम्परा हमको ऐसे मूल्यों से अवगत करती है जो संस्कृति को गति प्रदान करने अर्थात् सर्जनशील करने में सहयोगी होते हैं। परन्तु जहाँ परम्परा केवल पूर्ववर्त्ती मूल्य-रूढ़ियों को स्वीकार करती है, ऐसे मूल्यों पर बल देती है जिनकी सर्जन-क्षमता अर्थात् अनुभव रूप मे व्यजित होने की सम्भावना समाप्त हो चुकी हो और ऐसे आदर्शों के अनुकरण में संलग्न है जिनकी प्रेरणा देने की शक्ति चुक गई है, वह संस्कृति की बाधा बन जाती है और नई सर्जन-शीलता के लिए उससे विद्रोह करना आवश्यक हो जाता है।

यूरोप में सर्जनात्मक प्रतिभा के दो रूप प्रायः स्वीकार किये गये हैं। व्यवस्था, नियम सन्तुलन पर आधारित क्लासकी (संस्कारी) प्रतिभा। इस प्रतिभा की सर्जनशीलता में बौद्धिक गरिमा, कल्पना की महानता, नियमों की सार्वभौमिकता, अनुभवों की विराटता, सत्य की परात्परता, चिन्तन का अद्वैत, सौन्दर्य का शिवत्व अभिव्यंजित होते हैं। इस प्रतिभा की साहित्यिक अभिव्यक्ति का रूप महाकाव्य और महत् नाटक है जिसमें उपर्युक्त मूल्य-दृष्टियों का संरचनात्मक रूप परिलक्षित होता है। इसके विपरीत सर्जनात्मक प्रतिभा का दूसरा रूप 'रोमैण्टिक' (स्वच्छन्द) है, जिसमें भावात्मक उल्लास, आवेग, उत्साह, प्रेम की कोमलता, तरलता, मार्मिकता, कल्पना की स्वच्छन्दता, वायवीयता, रंगीनी, आत्म तत्त्व की वैयक्तिकता, आत्मीयता, सहानुभूति, परम्परा से विद्रोह और नवीनता का आग्रह पाया जाता है। इस प्रतिभा की साहित्यिक अभिव्यक्ति प्रगीतात्मक और स्वच्छन्द रूप होती है। अन्य स्तरों पर यह प्रवृत्ति राजनीतिक सामाजिक स्वतंत्रता, प्रजातंत्र, व्यक्ति-स्वाधीनता, बन्धुत्व, बराबरी आदि में परिलक्षित होती है, और भाववादी दर्शनों, रहस्यवादी अध्यात्म तथा प्रकृतिवादी धर्म की प्रेरणा-स्रोत बनती है। सब मिला कर किसी न किसी प्रकार के मानवतावाद को इससे समर्थन मिलता है। पर यह नहीं समझना चाहिए कि प्रतिभा के ये दोनों रूप नितान्त भिन्न युगों में क्रियाशील होते हैं; एक में दूसरे का आविर्भाव होता है, एक से दूसरा सम्बद्ध होता है और दोनों की आन्तरिक प्रतिक्रियाएँ भी देखी जा सकती है।

सास्कृतिक मूल्यो का एक प्रतिमान स्रोत प्रतिभाशाली व्यक्तित्व होता है ये व्यक्ति प्रतिभाएँ अपनी क्षमता से संस्कृति के किसी न किसी पक्ष को आकस्मिक रूप से

और महत्त्वपूर्ण ढंग से विकसित, सम्पन्न और समृद्ध बनाती हैं। व्यक्ति प्रतिभाओं को मान लेने पर भी यह नहीं स्वीकार किया जा सकता कि उनकी सांस्कृतिक चेष्टा परम्परा तथा परिवेश से नितान्त स्वतंत्र रूप में क्रियाशील होती है। प्रतिभाएँ अपने युग के परिवेश में ही अपने को रूपायित करती हैं, अपनी वैयक्तिक विशिष्टता को सचेष्ट करती हैं और फिर अभिव्यक्ति करने में सफल होती हैं। इस सापेक्षता के बिना प्रतिभाएँ स्वतः न व्यक्तित्व ग्रहण कर सकती हैं और न अभिव्यक्ति में रूप-ग्रहण कर सकती हैं। परन्तु यह भी है कि ये प्रतिभाएँ युग को भी प्रभावित करती हैं, युग की चेतना को मूल्य की सर्जनात्मक अनुभूति के रूप में अभिव्यक्ति प्रदान करती हैं और अपने युग की समस्त अनुभूतियो, अनुभवो, चेष्टाओं को अधिक सघन, संश्लिष्ट और सार्थक प्रतिरूपों (Patterns) में व्यंजित करने में सफल होती हैं। वस्तुतः प्रतिभा का प्रतिमान भी सर्जन-क्षमता ही है, क्योंकि इस प्रकार वह अपनी रचना में गहरी विश्लेषण की दृष्टि, समन्वय तथा संघटन की आन्तरिक क्षमता और नये संरचनात्मक प्रतिरूपों के निर्माण की दक्षता प्रकट करती है। यहाँ संकेत रूप मे यह कह देना आवश्यक है कि भारतीय संस्कृति प्रक्रिया में मूल रूप से 'क्लासकी' (संस्कृत) प्रतिभा सर्जनशील रही है, यह अवश्य है कि उसमें समय-समय पर रोमैण्टिक प्रतिभा का सुन्दर सामंजस्य देखा गया है। इसी प्रकार व्यक्ति-प्रतिभाएँ सार्वभौमिकता के आदर्श के कारण सदा अपने को निर्वैयक्तिक मान कर चली हैं, न केवल सर्जन और कृतित्व के स्तर पर, वरन् उन्होंने लौकिक जीवन में भी अपने अहं का निषेध किया है।

× × ×

सांस्कृतिक प्रक्रिया को सर्जनशील तथा मूल्यवान् माना गया है। और प्रतिपादित किया गया है कि सांस्कृतिक दृष्टि का पूर्ण विकास मूल्य-बोध की उच्चतम सर्जनात्मक भूमिकाओं की खोज के साथ सम्भव हुआ है। जिनको आज मानव-जीवन की पूर्णता के विविध पक्षों में लक्षित किया जा सकता है। ऊँची भूमिकाओं पर मनुष्य के सामान्य यथार्थ जीवन से मूल्य-दृष्टि निरपेक्ष तथा तटस्थ रह सकती है, पर सर्जनशील मूल्यों का बहुत बड़ा क्षेत्र मनुष्य का यह जीवन है। वरन् महान् सर्जनशील तथा मूल्यवान् व्यक्ति अपनी उच्चतम भूमिकाओं पर जीवन के सामाजिक तथा नैतिक मूल्यों से अलग नहीं देखे गये हैं। समाज की विभिन्न व्यवस्थाओं से लेकर राज्य की परिकल्पना तक में सहयोग, संघटन तथा अनुशासन की अपेक्षा है। इनको मूल्य-बोध के रूप में तभी तक ग्रहण किया जा सकता है, जब तक व्यक्ति सस्था के इन विभिन्न रूपों के साथ सम्बन्ध तथा लगाव का अनुभव करता है, और तभी तक इनसे प्राप्त स्वतंत्रता, सुरक्षा, संरक्षण आदि उसके व्यक्तित्व की स्वाधीनता तथा उन्नति के लिए महत्त्व रखते हैं। व्यवस्थाओं के यांत्रिक होने के साथ व्यक्ति का यह आत्मीय लगाव टूटता जाता है, और इनसे प्राप्त स्वतंत्रता तथा संरक्षण एक दूसरे स्तर पर पराधीनता तथा विवशता बन जाते हैं।

यह अवश्य है कि उपर्युक्त सहयोग में किसी भाव तत्त्व की सदा अपेक्षा नहीं है। व्यवस्थाएँ इस प्रकार नियोजित हो जाती है कि सहयोग तथा सेवा का काम बिना आपसी सम्बन्ध सम्पर्क के चलता रहता है एक सीमा तक और एक स्तर पर यह निरपेक्ष

सहयोग तथा सेवा सामाजिक जीवन तथा आत्मिक जीवन के विकास तथा समृद्धि के अनुकूल स्वतंत्रता तथा सुरक्षा का वातावरण बनाने में सहायक होते हैं। इस वातावरण में व्यक्ति मैत्री, प्रेम, सेवा, सदाशयता आदि सामाजिक मूल्यों का अनुभव करता है, उसको श्रेयस्कर नैतिक मूल्यों को विकसित करने का मौक़ा मिलता है, उसका रचनात्मक प्रत्ययों का बौद्धिक जीवन सम्भव हो सकता है तथा वह आध्यात्मिक जीवन की पूर्ण चेतना की रहस्य प्रतीतियों की भूमिकाओं पर संक्रमण करता चल सकता है। परन्तु व्यवस्था और शासन-तंत्र की प्रकृति मे ऐसी यांत्रिकता निहित है कि किसी न किसी रूप में एक सीमा के आगे वह व्यक्ति को बाधित करने लगती है। वह उस यांत्रिकता से संचालित होकर पराधीन और विवश हो जाता है। उसकी मूल्य-बोध की सर्जनात्मक क्षमता नष्ट हो जाती है। प्लेटो जैसे विचारक ने दार्शनिकों तथा आदर्श व्यक्तियों के द्वारा राज्य-शक्ति के संचालित किये जाने पर इसलिए बल दिया था। अराजकतावादी इसीलिए राज्य के विरुद्ध हैं। साम्यवादी भी समाजवाद की सार्वभौम स्थापना के बाद राज्य व्यवस्था को अनावश्यक मानते हैं। गांधी की सर्वोदयी विचार-धारा के अनुसार शासन तंत्र को इस सीमा तक विकेन्द्रित हो जाना चाहिए कि उसे मानवीय संस्था के रूप में अनुभव किया जा सके।

मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति उसे अनेक संस्थाएँ बनाने के लिए प्रेरित करती है। संस्थाओं के माध्यम से वह व्यक्तिगत और समष्टिगत श्रेय और भलाई की ओर उन्मुख होता है। इनके माध्यम से व्यष्टि को समष्टिगत विकास करने का अवसर मिलता है और वह आत्मिक उन्नति करने में समर्थ होता है। इनमें राज्य ऐसी संस्था है जो अन्य समस्त संस्थाओं को शासित तथा नियोजित करती है, अतः उसके सामने सब के श्रेय तथा विकास का लक्ष्य होता है। परन्तु राज्य संस्था का शासन सरकार के द्वारा चलता है, जो विभिन्न व्यक्तियों, समूहों, वर्गों तथा समुदायों के शक्ति-सन्तुलन मे सर्वाधिक शक्तिमान् हो जाती है। यह शक्ति व्यक्तियों तथा वर्गों में केन्द्रित होकर अधिनायकवाद तथा वर्ग प्रभुत्व का कारण बन जाती है। इस राज्य शक्ति के समर्थन से समाज में असन्तुलन आ जाता है, निजी सम्पत्ति का वैषम्य बढ़ जाता है, शासक तथा शासित वर्ग बन जाते है। इस प्रकार श्रेय की दृष्टि से क़ायम संस्था राज्य मनुष्य की सहज सहयोग-मूलक प्रवृत्तियों का विरोधी होकर सब प्रकार नैतिक बुराइयों की जड़ हो जाता है। उसकी इस प्रवृत्ति के कारण कुछ विचारक राज्य का विरोध करते हैं। परन्तु आदर्श कल्पनाओं को छोड़ कर अभी तक राज्य के बिना काम नहीं चल सका है। क़ानून तथा व्यवस्था द्वारा राज्य नागरिकों को सुरक्षा का आश्वासन देता है। जिसमें वे दूसरों की स्वतंत्रता और शान्ति को बिना बाधा पहुँचाए अपनी उन्नति कर सकें। यदि कभी राज्य की शक्ति किसी व्यक्ति अथवा वर्ग में अधिक केन्द्रित हो जाती है और वह सामान्य जनता के आश्वासन को पूरा नहीं करती तो उसके बदलने की प्रतिक्रिया उसी तंत्र की प्रकृति से शुरू होती है। फिर राज्य के ऐसे सिद्धान्त सामने आते है जो इस संस्था का सही परिचालन कर सकें। रामराज्य, लोक-तंत्र, समाजवाद तथा साम्यवाद आदि ऐसे ही आदर्श हैं। ये राज्य-पद्धतियाँ वस्तुतः मूल्य-दृष्टियाँ हैं जो अपने नैतिक आकर्षण से जनता को उन्मुख कर परिवर्तन लाने में सहायक हुई हैं चाहे सम्भव न हुआ हो, पर

राज्य की आदर्श मूल्य-दृष्टियों में यह सदा निहित रहा है कि उनका लक्ष्य सामान्य जनता के जीवन का उन्नयन है। यह उन्नति भौतिक सुख-सुविधाओं तक सीमित न होकर नैतिक जीवन को समृद्ध करने, बौद्धिक और संवेदना के जीवन को सुन्दर बनाने की दिशा में भी प्रेरित है।

अभी तक समाज और राज्य के आदर्श स्वरूप की जो कल्पनाएँ सामने आयी है, उनमे बाहरी व्यवस्था का ऐसा रूप प्रतिपादित किया गया है जिसमे व्यक्ति प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सके। जनतंत्र हो या समाजवाद, प्लेटो के आदर्श राज्य की कल्पना हो अथवा गाधी के राम-राज्य की कल्पना, इनमें बाह्य परिस्थितियों को इस प्रकार नियोजित किया जा सकता है जो मनुष्य की बाह्य ही नहीं आन्तरिक प्रगति के लिए भी अपेक्षित हैं। परन्तु राजनीति की मूल्य-दृष्टि जीवन के अन्य क्षेत्रों में साधन रूप तो हो सकती है, पर उनके मूल्यो का स्थानापन्न नहीं हो सकती है। सामाजिक जीवन के मैत्री, प्रेम, सहानुभूति, त्याग, सेवा जैसे भावों का सर्जनात्मक अनुभव राज्य की आदर्श व्यवस्थाओं में अधिक सम्भव हो सकता है, पर वे इन अनुभवों को सम्भव नही बना सकतीं। इसके विपरीत सामाजिक जीवन का यह सर्जनात्मक स्तर राज्य व्यवस्था को प्रभावित कर सकता है। इतना ही नहीं है कि राज्य व्यवस्थाएँ शक्ति-केन्द्रित हो जाती हैं, और अत्यधिक अनुशासित किसी भी व्यवस्था के समान यांत्रिक होकर मानवीय स्पर्श से हीन हो जाती हैं। वरन् यह भी है कि राजनीति हमारे जीवन में दर्शन का स्थान ले लेती है, जबकि हम जीवन के सभी पक्षों में राजनीति से प्रेरणा लेने लगते है। परिणाम होता है कि हमारे सामने सब से बड़ा आदर्श नागरिक जीवन का होता है, हम एक निश्चित तथा सीमित समाज, देश, जाति तथा राष्ट्र के सदस्य के रूप में अपने दायित्व का अनुभव करते हैं। यहाँ तक कठिनाई नहीं है, यदि हम आगे बढ़ कर अपने दायित्व की सीमा का विस्तार करें। परन्तु प्रायः हम अपने अधिक विस्तृत तथा ऊँचे सर्जनात्मक क्षेत्रो से विमुख रह जाते हैं। नैतिक, धार्मिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक तथा कलात्मक क्षेत्रों में मूल्यो की अनन्त सम्भावनाओं से हम वंचित रह जाते हैं अथवा इन क्षेत्रों में अपने अनुभवों को सीमित ढंग से उपार्जित कर पाते हैं। यदि मूल्यों के इस सांस्कृतिक क्रम को समाज तथा राजनीति के सन्दर्भ में सही ढंग से समझा तथा नियोजित किया जा सके तो आज के सकटग्रस्त राजनीतिक वातावरण में भी मनुष्य को दिशा मिलने की सम्भावना है।

× × ×

मनुष्य का सामाजिक जीवन व्यवस्थापरक है, और उसके इस पक्ष के साधनपरक मूल्यो का संकेत किया गया है। परन्तु उसका दूसरा पक्ष नैतिक मूल्यों का अनुभावन सामाजिक स्तर पर ही सम्भव है। मनुष्य अपनी बौद्धिक तथा संवेदनात्मक क्षमताओं से अपने जीवन को अधिक समृद्ध, सम्पन्न तथा सफल बनने का प्रयत्न करता है। वह अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओ, संकल्पों को दिशा देता है, आशा करता है, स्वप्न देखता है और उच्च से उच्चतर लक्ष्यो की ओर बढ़ने का प्रयत्न करता रहता है। और इस दिशा की ओर उसकी उन्मुखता नैतिक मूल्यो के अनुसन्धान का कारण है, क्योंकि इस प्रकार सब मिला कर मनुष्य जीने की कला का ही आविष्कार करता है। वैज्ञानिक प्रगति तथा और अनुभववादी चिन्तकों की

विचार-सरणि से नैतिक मूल्यों के क्षेत्र में कठिनाई उत्पन हो गई है। नैतिक मूल्यों को सापेक्ष मान लेने के कारण नैतिक जीवन की सम्भावना तथा उपलब्धि को अनिश्चय की दृष्टि से देखा जाने लगा है। परन्तु यदि ध्यान दिया जाय तो मानव जीवन की समस्त अर्थवत्ता अपनी अपेक्षाओं में निरपेक्ष होने की प्रक्रिया है। जब हम इस दृष्टि से मनुष्य के आचरण और व्यवहार पर विचार करते है तो उन्हें भौतिक अस्तित्व और परिस्थितियों के रूप मे मान कर नहीं चला जा सकता। क्योंकि उनके साथ मूल्य रूप अर्थ व्यंजित होता है। वस्तुओं, क्रियाओं तथा चरित्रो में निहित मूल्यों की यह अर्थवत्ता दूसरों की अपेक्षा मे ही ग्रहण की जाती है। वीरता, उदारता, त्याग आदि कर्म रूप में तभी मूल्य माने जाँयगे, जब इनका श्रेयस्कर उपयोग हो। यह आवश्यक है कि सर्जनात्मक मूल्य रूप में इनका अनुभावन व्यक्तिगत सन्दर्भों की अपेक्षा व्यापक सन्दर्भों में व्यंजित होगा। इतना ही नहीं श्रेयस् का अनुभव एक ऐसे व्यक्ति की अपेक्षा रखता है जो संवेदनशील और संस्कारी हो।

यहाँ एक अन्तर ध्यान में रखना है। नैतिक जीवन से सम्बन्धित मूल्यों के दो स्तर है। नैतिक कर्म अपने आप में मूल्य है, क्योंकि जीवन को उपयोगी और सार्थक बनाता है। यहाँ मूल्य का साधन रूप है। पर इन कर्मों के नैतिक पक्ष की मूल्य रूप में अर्थात् सर्जनात्मक अनुभूति के रूप में उपलब्धि नैतिकता का भिन्न स्तर है, यहाँ श्रेयस् स्वत: जीवन के लिए वाछनीय हो जाता है। औचित्य की दृष्टि से नैतिक कर्म की स्थिति केवल साधनपरक मूल्य तक सीमित है। प्लेटो का प्रत्युपकार, कान्ट का निरपेक्ष सामाजिक व्यवहार हेनरी सिजविक का आत्महित और पर-हित का सामंजस्य ऐसे नैतिक मूल्य व्यवहार की औचित्यपरक व्याख्या करते है। परन्तु आत्म-त्याग, परहित चिन्तन, सेवाभाव आदि ऐसे श्रेय है जिनमें व्यक्ति स्वत. अपना विस्तार करता है और इस प्रकार मूल्य स्तर पर इसका अनुभव कर अपने को पूर्ण तथा समृद्ध बनाने का प्रयत्न करता है। नैतिक जीवन में किन मूल्यों को चरम मूल्य अथवा उच्चतम श्रेयस् के रूप में माना जाय, इस सम्बन्ध में वहुत विचार किया गया है। पुन: यहा यह मानदण्ड लगाया जा सकता है कि जो मूल्य हमारी सर्जनात्मक अभिव्यक्ति को अधिक उच्च भूमियों पर प्रतिष्ठित करने में जितना सफल होगा, वह उतना ही श्रेयस् माना जाना चाहिए। क्योंकि इस प्रकार व्यक्ति अपने आप को अधिक विस्तार देने में सफल हो जावेगा। किसी न किसी रूप में मानव-विवेक, स्थिति-प्रज्ञता, मनस्विता, आत्म-संयम, संसार-विमुखता तथा बोधिसत्त्व ऐसे मूल्य हैं जो मनुष्य के नैतिक जीवन को ऊँचा तथा सम्पन्न बनाते है। मनुष्य इन गुणों से कर्तव्य पालन भी करता है और साधु या सन्त जीवन भी बिताता है। कर्तव्य के औचित्य के बारे में नैतिक नियमों को भी बताया जा सकता है। परन्तु सन्त जीवन की सम्भावनाओं के बारे में कोई निर्देश नहीं किया जा सकता। नियमों के निर्देश के आधार पर सर्जन कर्म कभी सम्भव नहीं होता। सर्जनात्मक मूल्य-बोध के रूप में साधुता स्वत. लक्ष्य है।

पूर्ण नैतिक जीवन साधु या सन्त जीवन की उपलब्धि माना जायगा। क्योंकि सामाजिक उपयोगिता और कर्तव्य की सीमा होती है इनके बारे में औचित्य का दृष्टिकोण भिन्न हो सकता है इसीलिए इससे सम्बन्धित नियमों की सीमा होती है अत इस प्रकार

के नैतिक मूल्यों की अपेक्षाएँ अधिक निश्चित होती हैं, और निरपेक्ष सर्जनशील होने की इनकी सम्भावना भी सीमित हो जाती है। परिवार, समाज, जाति, देश, राष्ट्र को दृष्टि मे रख कर जो नैतिक कर्म किए जाते हैं, उनमें सीमा विस्तार के साथ निरपेक्ष और सर्जनशील मूल्य-बोध की सम्भावना बढ़ती जाती है, क्योंकि इस प्रकार व्यक्तित्व कर्तव्य तथा नियम की भूमिकाओं से सर्जनात्मक भूमिका की ओर उन्मुख होता है। मानवता और विश्व की भूमिकाओं तक पहुँचते-पहुँचते निरपेक्षता की वह स्थिति स्वत: आ जाती है जिसे औचित्य तथा नियमों की सीमाएँ छू नही पाती। यहाँ आत्म-संयम, आत्म-निषेध, आत्म-त्याग और आत्म-बलिदान (क्रूसारोहण) के महत्त्व को साधु-जीवन के सन्दर्भ में समझा जा सकता है। बृहत्तर, उच्चतर और समृद्धतर जीवन की कामना से निचले स्तरों को त्यागना इस सर्जनशील मूल्य प्रक्रिया का ही एक चरण है। और इस प्रक्रिया में व्यक्ति का विवेक, उसकी मनस्विता, स्थिति-प्रज्ञता और उसका बोधि-सत्त्व सर्जनशीलता को अधिक संवेदनीय और उपार्जनीय बनाने में सहयोगी होते हैं।

परन्तु यह भी स्पष्ट है कि नैतिक जीवन का कोई न कोई सन्दर्भ बना रहता है। नैतिक मूल्य अपने अधिक से अधिक सर्जनात्मक रूप में व्यक्ति के माध्यम से समष्टि को सुख, शान्ति और आन्तरिक समृद्धि की ओर उन्मुख करते हैं। इसके लिए त्याग और आत्म-नियत्रण आदि का मार्ग स्वीकार किया जाता है, जो इस स्तर पर अनुभव को सघन कर समृद्ध बनाने में सहायक होता है। परन्तु इस जीवन में बौद्धिक तथा संवेदनात्मक सर्जनशीलता की निरपेक्षता तथा तटस्थता सम्भव नहीं है। कलात्मक सौन्दर्य तथा बौद्धिक प्रत्ययों की सृष्टि में सर्जन निर्वैयक्तिक रूप से मूल्यवान् होता है। इस प्रकार यह माना जा सकता है कि सस्कृति की शुद्ध या उच्च सर्जन प्रक्रिया में नैतिकता की भूमिओं का अतिक्रमण होता है। परन्तु यह अतिक्रमण नैतिक मूल्यों की औचित्यपरक भूमिका का माना जा सकता है। जिस स्तर पर मूल्य सर्जनशीलता से अभिन्न हो जाते हैं, नैतिक भूमिका का अन्य उच्च भूमिकाओ मे संक्रमण हो जाता है। नैतिक मूल्यों का सर्जनात्मक अनुभव कलात्मक अनुभव की सर्जनशीलता से अभिन्न हो जाता है। उच्चतम नैतिक जीवन कला, आध्यात्म, दर्शन के सर्जनात्मक मूल्यों को उपलब्ध करने की क्षमता प्रदान करता है। गहरी संवेदनशीलता के अभाव में इन उच्च मूल्यों का अनुभावन सम्भव नहीं है। और इन उच्च मूल्यों की सर्जनात्मक उपलब्धि से अन्तत: मनुष्य की संवेदनाएँ ऐसी विकसित होती हैं कि वह उच्च नैतिक जीवन का आकांक्षी बन जाता है।

× × ×

भारतीय शब्द 'दर्शन' धर्म के समान व्यापक और आन्तरिक अर्थ को व्यंजित करता है। प्राचीन तत्त्ववाद और आधुनिक तार्किक प्रत्यक्षवाद तथा अनुभववाद इसकी पूरी व्याख्या करने में समान रूप से असमर्थ हैं। प्राचीन तत्त्ववाद भी तर्क पद्धतियों का सहारा लेता आया है, और जीव, जीवन, जगत्, ईश्वर जैसे प्रश्नों के उत्तर की खोज में संलग्न रहा है। आज के तर्कवाद मुख्यत: ज्ञान की भाषागत प्रकृति के विवेचन विश्लेषण में लगे हुए हैं जो भी हो

हो या आज के तर्क और भाषा पर आश्रित ज्ञान की प्रकृति पर विचार करने वाले

सिद्धान्त हों, मूलतः मनुष्य के ज्ञान और अनुभवों की आन्तरिक संगति को ऐसे प्रत्ययो, चिह्नों, प्रतीको के माध्यम से व्यंजित करते हैं जो यथार्थ के नाना पक्षों को एक संघटित ज्ञान-रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा करते है। ज्ञान की सर्जनात्मक प्रक्रिया के क्षेत्र मे विज्ञान और तत्त्ववाद में मौलिक अन्तर नही है। विज्ञान विभिन्न क्षेत्रों की भौतिक क्रियाओ, व्यवहारों तथा अनुभवों का एकत्र तथा संयोजित ज्ञान है और तत्त्ववाद इस प्रकार के समस्त ज्ञान के संयोजन का प्रयत्न करता है। जहाँ इन क्षेत्रों का प्रत्ययीकरण, प्रतीकीकरण तथा उनकी भाषिक संरचना मानवीय अनुभव क्षेत्र को जीवन के स्तर पर प्रभावित करती है, विस्तार देती है अथवा समृद्ध करती है, यह ज्ञान-विज्ञान सर्जनात्मक है और दर्शन की परिभाषा के अन्तर्गत आता है। यों कहा जा सकता है कि जिस प्रकार धर्म की सांस्कृतिक प्रक्रिया आध्यात्मिक अनुभव का जीवन है, उसी प्रकार ज्ञान-विज्ञान की सांस्कृतिक सर्जनशीलता दार्शनिक साक्षात्कार का क्षेत्र है।

परन्तु दर्शन ज्ञान-विज्ञान के चिन्तन का अनुचिन्तन मात्र नहीं है, वरन् नैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक तथा कलात्मक मूल्यों के अनुभव पर विचार करना भी है। एक प्रकार से दार्शनिक प्रक्रिया में समस्त सांस्कृतिक मूल्य-चेष्टा को समाहित किया जा सकता है। जैसा कहा गया है मूल्यों की स्थिति सर्जनशीलता के समय व्यंजित होती है, अर्थात् मूल्यों का स्तर अनुभवपरक है। परन्तु इन अनुभवों को प्रत्यय, संकेत, मिथक, प्रतीक और अन्ततः बिम्ब रूपों में ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार इन सर्जनात्मक अनुभवों का दार्शनिक चिन्तन मे पुनर्मूल्यांकन होता है। इस प्रक्रिया में निहित विश्लेषण-विवेचन-व्याख्यान दार्शनिक चिन्तन में इन मूल्यों की भिन्न स्तर पर मूल्योपलब्धि कराने में सहायक होते हैं। कोई भी सर्जनात्मक अनुभूति सांकेतिक, मिथिक, प्रतीक-विधायनी या बिम्ब-विधायनी होती है। ऐसा नही है कि बिना भाषिक संरचना के अंग बने इनमें कोई भी संवेदनशील रचना का रूप ग्रहण कर सकें। रचना में ये आन्तरिक अनुभव-जगत् के नाना रूपों पक्षों और भूमिओ को उद्घाटित, विवृत तथा व्यंजित करने में सफल होते हैं। इसी प्रकार दार्शनिक प्रक्रिया इन तमाम अनुभव-क्षेत्रों, मूल्य चेष्टाओं, सर्जन प्रक्रियो को प्रत्ययों तथा प्रतीकों में रूपायित करती है। इनके माध्यम से जहाँ तक तार्किक ऊहापोह प्रकट किया जाता है, उक्तिओं तथा कथनों का खण्डन-मण्डन किया जाता है, यह दर्शन का तत्त्ववादी सिद्धान्त पक्ष है। इसमें सर्जन चेष्टा के अभाव में मूल्य-बोध का स्तर भी व्यक्त नहीं होता। अधिक से अधिक इसमें बौद्धिक कौशल प्रकट होता है जो सभ्य जीवन का बौद्धिक क्षमता सम्बन्धी एक लक्षण है। परन्तु यह प्रत्ययपरक, प्रतीकात्मक और कभी मिथकीय तथा बिम्बात्मक दार्शनिक अनुचिन्तन की प्रक्रिया अमूर्त को रूपाकार प्रदान करती है, आवश्यक नहीं है कि रूपाकार स्थिति और अवयव वाली वस्तुओं का ही हो, वह भाषिक अभिव्यक्ति ग्रहण करने वाली किसी मानसिक क्रिया, मन स्थिति तथा भावों का भी हो सकता है। वस्तुतः वस्तुओं की भौतिक स्थितियों का अनुभव इस भाषिक संरचना के अन्तर्गत व्यंजित होता है, और इसे ही उसका रूप कहा जायगा।

भाषिक स्तर पर दर्शन मनुष्य के समस्त चिन्तन को रचनात्मक अन्तर्सम्बन्धों, संगतियों और व्यापक अनुभव की सम्पूर्णता से सम्बद्ध करने का प्रयत्न करता है बौद्धिक

चेष्टा-क्रम में प्रतिरोध तथा विसंगतियों के बीच दर्शन एक से दूसरी प्रतीकीकरण प्रक्रिया मे संक्रमित होता चलता है। इस प्रकार अमूर्तीकरण के इस प्रत्ययपरक तथा प्रतीकात्मक भाषिक रूप-विधान में कला के समान अनुभवों के एक स्तर से दूसरे में संक्रमण होता चलता है। जो जितना संवेदनशील होता है, संस्कृत होता है और साथ ही कलात्मक सौन्दर्य के अनुभव की क्षमता रखता है, वह उसी सीमा तक इस दार्शनिक प्रक्रिया के सर्जनात्मक मूल्य का अनुभव भी कर सकता है। उच्चतम भूमिका में समस्त ज्ञान, चाहे नीति या सौन्दर्य हो, अनुभव तथा अस्तित्व का विस्तार करता है। और इस प्रकार दार्शनिक मूल्य प्रक्रिया भी जीवन को अधिक सर्जनशील, समृद्ध और सार्थक बनाने में सहायक होती है। ब्राड के अनुसार दर्शन समन्वय तथा पूर्ण रूपांकन की क्रिया से अग्रसर होता हैं। डॉ० देवराज इसीलिए दर्शन का विषय जीवन की समग्र मूल्य-प्रक्रिया मानते हैं, जो मनुष्य की सर्जनशील प्रेरणा से उच्चतर भूमियों की ओर अग्रसर है। इस प्रकार दर्शन मनुष्य की समस्त बौद्धिक क्षमता को उसके जीवनगत सार्थक अनुभवों के संयोजन के द्वारा जीवन की पूर्णता को उपलब्ध करने की ओर निरन्तर प्रवृत्त करता रहा है।

भारतीय धर्म व्यक्ति के सामाजिक कर्तव्य, आचार-संहिता और औचित्य विचार से लेकर उसके आध्यात्मिक जीवन की उच्चतम भूमिका तक को आत्मसात् करता है। धर्म भारतीय चिन्तन और साधना के संयोग की व्यंजना करने वाला शब्द है। यहाँ धर्म की सरणियाँ इस प्रकार विवेचित की गई हैं कि प्रयोग में आ जाने के बाद पहली सरणि अगली में संक्रमित होती जाती है। साधारण कर्तव्य तथा औचित्य का नैतिक जीवन शुद्ध नैतिक मूल्यों में संक्रमित हो जाता है, अर्थात् इस स्तर पर व्यक्ति कर्तव्याकर्तव्य की दृष्टि से नैतिक जीवन नहीं अपनाता, वरन् उसे नैतिकता स्वत: श्रेयस्कर लगती है। इसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करने वाले के लिए नैतिक जीवन सहायक भर रह जाता है, वरन् आध्यात्मिक भूमिका पर वह उसके प्रति तटस्थ भी हो जाता है। इसे भारतीय मूल्य-दृष्टि की विशेषता माना जा सकता है। पश्चिम के विचारकों ने इन स्तरों का संकेत आध्यात्मिक जीवन के ऐतिहासिक क्रम-विकास में देखने की चेष्टा की है। अपनी प्रारम्भिक चेतना के स्तर पर मनुष्य की आध्यात्म वृत्ति में अन्य अनेक तत्त्व सम्मिलित थे। मनुष्य के मिथक-युग मे उसकी गाथाओं में धर्म, दर्शन, काव्य, नीति तथा आध्यात्म के तत्त्वों का सम्मिश्रण था। मनुष्य ने क्रमश: इन विभिन्न क्षेत्रों को अलग किया है, वह उनके मूल्यों की सर्जनशीलता का अनुभव करने में सक्षम हुआ है, उनमें उसने उच्च से उच्चतर भूमिकाओं का क्रम बाँधा है।

विभिन्न संस्कृतियों अथवा संस्कृति के विभिन्न स्तरों में आस्था सम्बन्धी अन्तर हो सकता है। फिर भी मानवीय स्तर पर इनमें अविच्छिन्नता है, क्योंकि विभिन्न सत्ताओ के प्रति उनका समान भावात्मक सम्बन्ध है। मनुष्य ने विश्व को संचालित करने वाली शक्तियों तथा भौतिक पदार्थों के रूपों के बारे में नाना कल्पनाएँ की हैं। उसने प्रकृति के रूपात्मक सौन्दर्य क्रियाशील शक्ति और व्यंजित रहस्य को अनेक तरह से देखा है। परन्तु उनके मूल अनुभव में अन्तर नहीं आया है इसी आधार पर जीवन के क्षेत्र

में मनुष्य सांस्कृतिक परम्परा मे बंधा हुआ है क्रम विकास के साथ सत्ता की परिकल्पना मे अन्तर आते रहे हैं। प्रकृति में साक्षात् सत्ता को गतिशील देखने से लेकर मनुष्य ने नियामक ईश्वर तक की कल्पना की है। प्रकृति के एक गतिमय रूप को उल्लासमय देवत्व प्रदान करने से लेकर उसने एक व्यापक अनादि अनन्त आत्म तत्त्व के स्रोत रूप ब्रह्म तत्त्व तक की उद्भावना की। फिर उसकी सापेक्षता में अनुभूतिमय जीवन बिताना ही आध्यात्मिक जीवन माना गया है। आस्था के आलम्बन के साथ इस जीवन के सन्दर्भ मे पूर्णत्व की एक कल्पना रहती है जिसे मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, ईश्वर-प्राप्ति, लीला-सुख तथा स्वर्ग आदि के रूप में कहा गया है। सांस्कृतिक चेतना के स्तरों के साथ जिस प्रकार भावात्मक जीवन की प्रेरक सत्ता का रूप, धारणा और कल्पना भिन्न होती है, उसी प्रकार उसके लक्ष्य के बारे में विभिन्न परिकल्पनाएँ और अवधारणाएँ हैं। ऐसा नहीं है कि आध्यात्मिक जीवन और उसका विषय तथा लक्ष्य मनुष्य जीवन के अन्य पक्षों तथा उनमे उपार्जित होने वाले मूल्यों से अलग-अलग अपना अस्तित्व रखते हैं। आधार रूप मे देवत्व की कल्पना में मनुष्य अपनी प्राकृतिक तथा आत्मिक शक्तियों की सीमाओं को असीम तथा अनन्त सम्भावनाओं की ओर उन्मुख करता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन के लक्ष्य के रूप में वह अपनी सर्जनात्मक अनुभूति का उच्चतम अनुभावन करना चाहता है। यहाँ तक कि अनेक आध्यात्मिक जीवन-पद्धतियों में मनुष्य की अन्य समस्त सर्जनात्मक भूमिकाओं का संक्रमण किया गया है।

आध्यात्मिक जीवन की अनुभूतियों में जीवन को सम्पूर्णता मे व्यंजित करने की चेष्टा निहित है, अतः इस क्षेत्र में मनुष्य का समग्र मानस, उसका अवचेतन भी, संवेदित होता है। मनुष्य का सम्पूर्ण चेतना-जगत् अपनी अनुभूतियों के ऐसे आयाम में यहाँ प्रवेश करता है जो प्रत्यक्ष और सचेत मानसिक जीवन का प्रायः अतिक्रमण करता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य के प्रत्यक्ष और सचेत मानसिक जीवन में इसका आधार नहीं है, अथवा दोनों में आन्तरिक सम्बन्ध नहीं है। जब हम अपने व्यावहारिक तथा उपयोगी जीवन की अपेक्षा निरपेक्ष, निरुपयोगी, तटस्थ जीवन की अनुभूतियों की भूमिकाओं में प्रवेश करते हैं, उस समय हमारा पूरा अस्तित्व, हमारी पूरी मनोभूमि क्रियाशील हो उठती है। यहाँ चेतन अवचेतन, सामान्य असामन्य के बीच अविच्छिन्न सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इतना ही नहीं आध्यात्मिक जीवन का स्वरूप तथा प्रक्रिया ऐतिहासिक परम्पराओं से निर्धारित होते है। सांस्कृतिक मूल्य-प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण अग आध्यात्मिक अनुभूतियों का जीवन होता है, पर इसको संघटित और संवेदनीय बनाने मे सांस्कृतिक परम्परा का बहुत बड़ा योग रहता है। इतना ही नहीं, विचारकों ने स्वीकार किया है कि इस चेतना की विभिन्न भूमिकाओं के स्वरूप-निर्धारण में विशिष्ट व्यक्तियो और वर्गों का भी प्रभाव रहता है। रयूडाल्फ़ ऑटो ने रहस्यवाद सम्बन्धी अपने अध्ययनो मे इस अनुभूति की विविधता पर प्रकाश डाला है। यह रहस्यानुभूति सामान्य धार्मिक भाव के समान विभिन्न स्तरों तथा कोटियों वाली होती है; क्योंकि आध्यात्मिक जीवन के मूल्य शुद्ध अनुभूति के क्षेत्र में आते हैं अत जिन शब्दो, प्रतीको तथा संकेतों

में इसको अभिव्यक्त किया जाता है, उनसे इसकी विविधता पर प्रकाश नही पड़ता है। पर रहस्यानुभूति के विविध रूपों, प्रकारों और कोटियों को स्वीकार किया जा सकता है, और अद्वैतवादी शान्त तथा उद्वेगहीन, सूफ़ी आवेगमयी तथा उत्तेजक, तांत्रिकों की चमत्कार-मयी रहस्यानुभूतियों के अन्तर को उनकी व्यंजनों में देखा जा सकता है।

आध्यात्मिक जीवन की अनुभूतियों की कोटियों का निर्धारण उसके विषय या आलम्बन से भी होता है। संसार की क्षणभंगुरता, उसके दुःख-सुख के उपादान, उसकी कारणसत्ता हमारे मन मे विग्रहण, आतंक, विरक्ति उत्पन्न करते है। विश्व की विराटता, विविधता, अनन्त रूपता मन में विस्मय, जिज्ञासा और कौतूहल उत्पन्न करते हैं, जिनसे दार्शनिक बौद्धिक प्रक्रिया प्रारम्भ होती है और इस स्तर पर आध्यात्मिक जीवन सम्भव होता है। इसके अतिरिक्त नैतिक श्रेयस् और कलात्मक सौन्दर्य के मूल्य-बोध के स्तर पर भी आध्यात्मिक अनुभूतियाँ उपार्जित होती हैं। उपास्य की इस आलम्बन रूप कल्पना में शक्ति, शील, सौन्दर्य, कृपालुता तथा संहार का समावेश हो सकता है। सब मिला कर इस आध्यात्मिक चेतना मे शक्ति और विराटत्व, रहस्य और आकर्षण के व्यापक तत्त्व माने जा सकते है। ऑटो ने इसे विशुद्ध तथा अतीन्द्रिय (Holy or Numenous) की धारणा में व्याप्त करने की चेष्टा की है। परन्तु डॉ० देवराज का कहना है कि रहस्यानुभूति के सम्पूर्ण क्षेत्र को इस प्रकार व्याख्यायित करना सम्भव नही है, क्योंकि उनके अनुसार अद्वैतवादी रहस्यानुभव मात्र रहस्यानुभूति है और उसमें ऑटो की 'निर्भरता की भावना' के लिए भी स्थान नहीं है। जो भी हो रहस्यानुभूति कहने से आध्यात्मिक जीवन की उन भूमिओं का समाहार हो जाता है जो अवर्णनीय और अव्याख्येय हैं। साथ ही इस शक्ति, शील और सौन्दर्य समन्वित सत्ता के प्रति निर्भरता, अनन्यता तथा समर्पण उसकी आनन्दोपलब्धि के लिए उसी प्रकार अनिवार्य है जिस प्रकार उसकी विराटता, अनन्तता तथा अद्वैतता के सर्जनात्मक अनुभव के लिए योग, समाधि, आत्म-बोध आदि की अपेक्षा होती है।

संस्कृति की सारी चर्चा में यह व्यंजित हुआ है कि मनुष्य सर्जनात्मक मूल्योपलब्धि के क्षेत्र में उच्चतर लक्ष्य की ओर उन्मुख रहा है। और इस यात्रा में वह जितना आगे बढ़ा है उसका चरम लक्ष्य अधिक व्यापक, गहन, आन्तरिक, सूक्ष्म होता गया है। वह भौतिक जीवन के मूल्यों की सीमाओं का अतिक्रमण करता रहा है, उनको अपर्याप्त समझ कर आध्यात्मिक परम श्रेयस् की ओर अग्रसर हुआ है। इसके श्रेयस् की चरम मूल्य के रूप में अनेक कल्पनाएँ सामने आई है—लीला, निर्वाण, मोक्ष, ब्रह्मत्व, स्वर्ग आदि। उच्च भूमिओं के इस चरम मूल्य और उसकी उपलब्धि को सदा अवर्णनीय, अज्ञेय तथा अव्याख्येय माना गया है। इसका अनुभव का स्तर भी प्रायः भिन्न माना गया है। इस जीवन के लिए व्यावहारिक, भौतिक तथा उपयोगी जीवन के प्रति विरक्ति की अपेक्षा बताई गई है। यह अवश्य है कि यह उदासीनता निष्क्रिय नहीं है, क्योंकि आध्यात्मिक जीवन व्यापक, आन्तरिक तथा सघन क्रियाशीलता की माँग करता है। इस क्रियाशीलता के स्तर पर समझा जा सकता है कि आध्यात्मिक जीवन से सम्पन्न व्यक्ति—साधु या सन्त अपनी तटस्थ, उदासी और वैराग्य-वृत्ति में भी अत्यन्त सवेदनशील, माधुर्यमय तथा मानवीय गुणों से युक्त होता है वस्तुतः वह

सर्जनशील मूल्य-बोध की जिस भूमिका में संचरण करता है, वह उसके व्यक्तित्व को पूर्णतः प्रभावित करती रहती है। यह तो है ही इस भूमिका तक वह इन मूल्य-भूमिओं के माध्यम से पहुँचा है। बराबर चिन्तकों ने मैत्री, करुणा, मुदिता, दया, प्रेम आदि को साधना के सहायक गुण माना है।

आध्यात्मिक साधना की तटस्थता भावमूलक है। यह समझना गलत है कि आध्यात्मिक जीवन में मानवीय भाव-जगत् का निषेध है। कलात्मक अनुभव के समान आध्यात्मिक अनुभव तटस्थता की माँग करता है, क्योंकि सर्जनशीलता के स्तर पर मूल्यों की निर्वैयक्तिक उपलब्धि ही सम्भव है। कलात्मक सर्जन में अन्य मूल्य-स्थितियों का अन्तर्भाव रहता है और सर्जनशीलता में इन सबसे तटस्थ या निरपेक्ष रह कर रचनात्मक मूल्योपलब्धि सम्भव होती है, जबकि आध्यात्मिक जीवन में अन्य मूल्यों का अतिक्रमण कर परम श्रेयस् की ओर उन्मुख सर्जनशील सम्भावनाओं की उपलब्धि का प्रयत्न होता है। कलात्मक अनुभूति तथा आध्यात्मिक अनुभूति में यह अन्तर महत्त्वपूर्ण है। पहले तो कलात्मक अनुभव का परम मूल्य के रूप मे कोई लक्ष्य नहीं होता, दूसरे वह केवल उपलब्धि का विषय नहीं है, अभिव्यक्ति का विषय भी है। आध्यात्मिक जीवन के लिए चाहे जितना धुंधला या अस्पष्ट हो पर परम श्रेयस् रूप चरम मूल्य निर्दिष्ट होता है और अभिव्यक्ति उसकी अनिवार्यता नहीं है। परन्तु सर्जनात्मक स्तर पर कला की सौन्दर्यानुभूति और आध्यात्म की रहस्यानुभूति अपने निर्वैयक्तिक रूप में इतने निकट आ जाती हैं कि एक में दूसरे का संक्रमण होना सम्भव होता है। काव्यानुभूति की उच्चतम भूमि आध्यात्मिक रहस्यानुभूति के समान विराटत्व, अनन्तता, अद्वैत, पूर्णानन्द, अस्तित्वबोध को आत्मासात् कर लेती है। और आध्यात्मिक रहस्यानुभूति मे न केवल सौन्दर्य, माधुर्य तथा अन्य कोमल सूक्ष्म संवेदनाओं का अन्तर्भाव रहता है, वरन् काव्य के समान मिथकों, प्रतीकों, बिम्बों, रूपकों में वह अभिव्यक्ति भी ग्रहण करती है।

आधार तथा सन्दर्भ ग्रन्थ

१. डिक्लाइन ऑव दि वेस्ट : ओसवाल्ड स्पेंगलर
२. सिविलिज़ेशन एण्ड सिविलिज़ेशन्स : ई० एच० गाडर्ड और पी० ए० गिबन्स
३. सिविलिज़ेशन ऑन ट्रायल : आर्नोल्ड जोज़फ़ ट्वायनबी
४. ए स्टडी ऑव हिस्ट्री : वही
५. सोशल एण्ड कल्चरल डाइनेमिक्स : पितरिम एलेग्जेन्ड्रोविच सारोकिन
६. दि ग्रेट कल्चरल ट्रेडिशन्स : रैल्फ़ टर्नर
७. दि मीनिंग ऑव डिस्ट्री : निकोलाई बेर्दिएव
८. दि फिलासफ़ी ऑव सिविलिज़ेशन : एलबर्ट श्वाइत्ज़र
९. दि मीटिंग ऑव ईस्ट एण्ड वेस्ट : एफ़० एस० सी० नोथ्रोप
१० दि पावर्टी आव पोपर

११ दि ग्रेट चेन ऑव बीइंग : आर्थर ओ० लवज्वाय
१२. मैन एण्ड हिज़ वर्क्स : एम० जे० हर्सकोविट्स
१३. सोशल काजेशन : आर० एन० मैकाइवर
१४. प्रिमिटिव कल्चर : ई० टाईलर
१५. एन्थ्रापालोजी : ए० एल० क्रोबर
१६. नोट्स टुवर्ड दि डिफ़िनेशन ऑव कल्चर : टी० एस० इलियट
१७. दि रिवोल्ट ऑव दि मासेज़ : जे० आर्टीगा वाई० गैसेट
१८. सिक्स एक्जिस्टेंशिएलिस्ट थिंकर्स : एस० आई० ब्लैकहैम
१९. एजूकेशन एण्ड मारल्स : जान एल० चाइल्ड्स
२०. पैटर्न्स ऑव एजूकेशनल फ़िलासफ़ी : थियोडार ब्रेमेल्ड
२१. साइकॉलोजी एण्ड दि रिलिजस क्वेस्ट : आर० बी० कैटेल
२२. माडर्न फ़िलासफ़ीज़ ऑव एजूकेशन : जे० एस० ब्रूबाकर
२३. ए हिस्ट्री ऑव पोलीटिकल थियरी : जार्ज एच० सैबाइन
२४. दि स्टेट इन थियुरी एण्ड प्रैक्टिस : हेराल्ड जे० लास्की
२५. पावर ए न्यू सोशल एनेलिसिस : बर्ट्रान्ड रसेल
२६. सोशल फ़िलासफ़ीज़ ऑव एन ऐज ऑव क्राइसिस : पी० ए० सोरोकिन
२७. रिलीजन एण्ड दि माडर्न माइन्ड : डब्ल्यू० टी० स्टेस
२८. एन एग्जामीनेशन ऑव दि प्लेस ऑव रीज़न इन एथिक्स : एस० ई० टलमिन
२९. दि मीनिंग ऑव मीनिंग : सी० के० ऑगडेन और आई० ए० रिचर्ड्स
३०. लैंग्वेज, ट्रुथ एण्ड लॉजिक : ए० जे० ऐयर
३१. दि वेराएटीज ऑव रिलीजस एक्सपीरियन्स : विलियम जेम्स
३२. मिस्टिसीज्म ईस्ट एण्ड वेस्ट : रयूडाल्फ़ ऑटो
३३. दि आइडिया ऑव होली : वही
३४. मैजिक, सायंस एण्ड रिलीजन : बी० मेलिनाउस्की
३५. रिलीजन एण्ड साइंस : बर्ट्रान्ड रसेल

संदर्भ-संकेत

(१) सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम् ॥ महाभारत ।

(२) धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्
पूर्ववृत्त प्रचक्षते । महाभारत

(३) आर्षादिबहुव्याख्यानं देवर्षिचरिताश्रयम्।
इतिहासमिति प्रोक्तं भविष्यद्भुतधर्मभाक्॥ विष्णुपुराण॥

(४) टाइलर, हर्सकोविट्स, मैलिन, उस्की आदि नृतत्त्व शास्त्रियों के मतों के आधार पर

(५) क्रोएबर, हर्सकोविट्स, रूथबिनिडिक्ट आदि के विचार है।

(६) टाइलर और हर्सकोविट्स जैसे विचारक।

(७) मैकाइबर, टुवायनबी और स्पेंगलर।

(८) मकाइवर और टुवायनबी

संत-साहित्य में नामतत्त्व और नामसाधना

●

परशुराम चतुर्वेदी

नामतत्त्व

संतकवियों ने अपनी रचनाओं के अन्तर्गत 'नाम' एवं 'नामसाधना' को बहुत बड़ा महत्त्व प्रदान किया है। संत कबीर के अनुसार, "मैंने कह दिया है और ब्रह्मा एवं शिव तक कह चुके है कि 'रामनाम' ही 'तत्त्वसार' है तथा यही सब किसी ने उपदेश भी दिया है"[१] अथवा "तीनों लोक में सारे तत्त्वों का तिलक एवं वास्तविक सार पदार्थ 'रामनाम' ही है। इसी कारण, मुझ जन कबीर ने इसे अपने मस्तक पर दे रखा है जिससे इसकी शोभा अपार हो गई है।"[२] इसी प्रकार ये इतना और भी कहते हैं कि "वास्तव में भक्ति भी 'हरिनाम' का भजन करना ही है और अन्य बातें तो केवल अपार दुःख स्वरूप हैं। अपने मन से, वचन से एवं कर्म के द्वारा हरि का स्मरण करते रहना ही जीवन का सारपदार्थ है"[३]। गुरुनानक देव का भी कहना है कि "सच्चे नाम' के तिलमात्र की भी बड़ाई कर पाना संभव नहीं, चाहे हम ऐसा करते-करते थक जाँय, किंतु उसकी कोई कीमत नहीं लगायी जा सकती।"[४] इसीलिए अन्यत्र यह भी उन्होंने बतला दिया है, "अहर्निश राम के रंग में रमे रहा करो, क्योंकि यही जप, तप, संयम, आदि सभी का सार है"[५] अथवा "चाहे हम करोड़ों प्रकार की साधनाएँ क्यों न करते चले जाँय, इतना निश्चय है कि, वह कभी, 'हरिनाम' के स्मरण की तुलना में वह नहीं ठहर सकता है।"[६]

ये संत कवि 'नामतत्व' एवं 'नामसाधना' के महत्व का केवल गान मात्र करके ही, नहीं रह जाते। ये, इसके साथ इतना और भी कथन कर देना नहीं भूलते कि इन्होंने स्वयं अपने अनुभव में भी, इस बात का बोध कर लिया है। संत नामदेव ने इस संबंध में, अपना अनुभव बतलाते हुए, कहा है, "मै जाँत-पाँत के बखेड़े में नहीं पड़ा करता, मैं तो दिन-रात, केवल राम का नाम जपने में ही, लगा रहता हूँ। मेरा मन 'गज' का काम करता है और मेरी जीभ कैंची बन जाती है जिन दोनों की सहायता से मैं यम का बन्धन काटता हूँ। मैं वस्त्र के रंगने और सीने का भी काम करता हूँ किन्तु, घड़ी भर के लिए भी मुझे भगवन्नाम

विस्मरण नहीं हो पाता। मेरी सुई (जो संभवत: गुरुपदेशमयी है) सोने की है, और मेरा धागा (जो संभवत: अपने श्वास-प्रश्वासों का बना है) चाँदी का है जिनके आधार पर मेरा चित्त भगवान् में लगा हुआ रहता है।"[७]

इसी प्रकार उन्होंने अन्यत्र अपनी उस दशा का भी वर्णन किया है जब कभी उनका कोई एक भी क्षण, उससे रहित होकर व्यतीत हो जाता होगा क्योंकि, वैसी स्थिति में तो, वे बेचैन हो जाते हैं। उनका कहना है, "जैसे बछड़े के बिना गाय व्याकुल हो उठती है और पानी के बिना मछली तड़पने लग जाती है उसी प्रकार मैं रामनाम के बिना पीड़ित हो उठता हूँ। मेरा शरीर नाम के बिना उसी प्रकार व्यग्र हो जाया करता है जैसे सूर्य की कड़ी धूप के कारण मानव शरीर जलने लगता है।"[८]

संत कबीर के लिए तो 'हरिनाम' उनकी दौलत एवं सर्वस्व जैसा भी प्रतीत होता है। ये कहते है "मेरे पास हरिनाम के रूप में एक ऐसा अनुपम धन है जिसे मैं न तो अपनी गाँठ मे बाँधता हूँ और न उसे बेच कर खाया ही करता हूँ। नाम ही मेरी खेती है वही मेरी वारं है, मैं भक्ति करता हूँ और अपने प्रभु की शरण में रहा करता हूँ, नाम ही मेरो सेवा है वही मेरी पूजा है तथा मैं, अपने इष्टदेव के अतिरिक्त, और कुछ जानता भी नहीं हूँ। नाम ही मेरा बाधव है, वही मेरा भाई है और, मुझे विश्वास है कि, अंत की वेला में वही मेरा सहायक भी होगा। मेरे लिए तो नाम ऐसा हो गया है जैसे किसी निर्धन के लिए कोई निधि हो अथवा किसी रंक के लिए मिठाई हो।[९] इन्होंने अपने विषय में यहाँ तक कहा है: "मेरे पाँचों साथी (सभवत: ज्ञानेन्द्रिय) उस प्रियतम की रट लगाये हुए है और छठा जो मेरा मन है वह भी नाम-स्मरण में लीन है, मेरी अपनी उपलब्धि की स्थिति आ गई है और मैंने राम रत्न को पा लिया है।"[१०] इसी प्रकार संत रैदास, अपने इष्टदेव के नाम की रट लगाये रहने के विषय में, उससे कहते हैं, "हे प्रभो, मेरा यह 'रामनाम' की रट लगाना भला छूट भी तो नही सकता, क्योंकि तुम जहाँ चन्दन हो वहाँ मैं वह जल हूँ जिसके प्रत्येक कण में उसकी सुगध भीनी हुई है, तुम जहाँ जङ्गल हो वहाँ मै उसके बीच रहनेवाला मोर हूँ तथा जिस प्रकार कोई चकोर पक्षी चन्द्रमा की ओर एकटक लगाये रहा करता है, उसी प्रकार मैं सदा तुम्हें ही निहारा करता हूँ।" फिर इसी प्रकार "यदि तुम कोई दीपक हो तो, मैं उसकी बत्ती के समान हूँ जो बराबर उसी की ज्योति द्वारा प्रज्वलित रहा करती है, यदि तुम कोई मोती हो तो मै उसके धागे के समान हूँ और मैं, तुम जैसे सोने के लिए सोहागे का भी काम किया करता हूँ। सच तो यह है कि मेरे तुम्हीं स्वामी हो और मैं तुम्हारा दास हूँ तथा, वैसी ही स्थिति में बना रहकर, मैं तुम्हारी भक्ति भी किया करता हूँ।"[११]

परन्तु, इतना होते हुए भी, ये संत कवि हमें उस 'नाम-तत्व' का कहीं कोई स्पष्ट परिचय भी देते हुए, नहीं जान पड़ते और न ये हमें, कोई इस प्रकार का संकेत करते ही दीखते हैं, जिसके आधार पर हम इनके द्वारा अपनायी जानेवाली 'नाम-साधना' की प्रक्रिया को भलीभाँति समझ सकें अथवा उसके विषय में कोई अपनी धारणा तक बना सकें। वास्तव में, इन्होंने, इस सम्बन्ध में, जो कुछ भी कहा है वह, अधिकतर इनकी निजी अनुभूति पर ही आश्रित रहने के कारण हमारे लिए कभी-कभी कुछ रहस्यमय-सा बन गया प्रतीत

होता है। हमें वह किसी वैसे दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक प्रतिपादन जैसा नहीं लगा करता जिस रूप में किसी बात को समझ पाने का अभ्यास, प्रायः सर्वसाधारण को रहता है। इसके सिवाय ये संतकवि हमें बराबर, ऐसा करते हुए भी, दीखते हैं कि जो कुछ इन्हें स्वयं विदित हो पाया था वह भी केवल इनके अपने किसी 'सतगुरु' की कृपा के ही फलस्वरूप रहा तथा वह इनकी निजी अनुभूति मात्र के सहारे ही, किसी समय बोधगम्य भी हो पाया था। तदनुसार इस प्रकार की बातों का प्रत्यक्ष अनुभव केवल उन्हीं के लिए संभव हो सकता है, जिनके भीतर, किसी अनुपम शक्ति के जागृत हो जाने के परिणाम स्वरूप, उनके जीवन मे, कोई आमूल परिवर्तन तक आ जाय। संभव है कि उस दशा में, उन्हें आत्मबोध भी हो जाय और वे, अपनी वैसी स्थिति का यथावत परिचय देने में, अपने को सर्वथा असमर्थ तक पाने लगें।

'नाम' शब्द की परिभाषा बतलाते समय साधारणतः कह दिया जाता है कि वह कोई इस प्रकार का असाधारण शब्द हो सकता है जो किसी व्यक्तिविशेष अथवा किसी वस्तु विशेष का हमें बोध करा देने में काम आता है। किन्तु परमात्मा के नाम की चर्चा करते हुए, गुरुनानक देव ने कहा है कि 'उसके तो असंख्य नाम एवं असंख्य स्थान हैं तथा वह न केवल हमारे मन, वाणी एवं बुद्धि के परे है, प्रत्युत उसके लिए ऐसे 'असंख्य' शब्द का प्रयोग करना भी अपने सिर पर व्यर्थ का भार लाद लेना है जो कदापि उचित नहीं समझा जा सकता। वास्तव में, नाम को हम अक्षर द्वारा निर्मित अथवा उस पर आधारित समझा करते है, किन्तु वह अक्षर भी तो वस्तुतः परमात्मा की ही रचना है और वैसी दशा में हम ऐसा ही क्यों न कहें कि जो कुछ भी सृष्टि हमारे गोचर हो पाती है वह सभी नाम है, इससे रिक्त कुछ भी नही।[१२] इसी प्रकार उन्होंने अन्यत्र भी कहा है, "उसने अपने आप ही अपने को निर्मित किया तथा स्वयं उसने ही अपना नाम तक धारण कर लिया।[१३] अथवा "हे परमात्मन् तेरा नाम" 'निरंकार' है और यदि तेरा नाम-स्मरण किया जाय तो, इसमें सन्देह नहीं कि, किसी को कभी नरक में जाने की आशंका भी नहीं रह जाय।[१४] इसी प्रकार गुरु अर्जुनदेव ने भी, अपनी 'सुखमनी' के अन्तर्गत, बतलाया है कि 'नाम के ही द्वारा सारे जीवों की रचना हुई है और सारे शरीरों की सृष्टि हुई है' तथा 'परब्रह्म के ही सभी स्थल हैं और उसी ने जिसका जैसा तैसा नाम तक रख दिया है।[१५] इसके सिवाय, हम यह भी देखते हैं कि, गुरु नानक देव द्वारा प्रवर्तित सिख धर्म के बीजमंत्र १ ओंकार सतिनामु करता पुरखु निरभउ निरवैरु अकाल मूरति अजूनी सैभंगुर प्रसादि "की व्याख्या के ऊपर विचार करते समय, हमें प्रतीत होने लगता है कि वहाँ पर जो 'ओंकार' एवं 'सतिनाम' शब्दो का प्रयोग, उसके आरंभ में ही कर दिया गया है उसकी भी कुछ सार्थकता रही होगी। परमात्मतत्व को वहाँ पर, 'एक' एवं 'ओंकारस्वरूप' बतलाने के साथ-साथ, उसे 'सत्यनाम' (संभवतः 'सत्तास्वरूप' एवं 'नाम स्वरूप') तक भी कहा गया है जिससे 'नाम' को विशेष महत्व दिये जाने पर भी, बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। तदनुसार, यह भी संभव है, वह तत्व, एक ही प्रकार, 'ओंकार' एवं 'सत्यनाम' भी ठहराया जा सकता हो।

संत कबीर ने 'नाम' की चर्चा करते समय, उसके लिए अधिकतर 'राम नाम'

अथवा केवल 'राम' का भी प्रयोग किया है। एक स्थल पर इसके विषय में, उन्होंने कहा है कि 'वह कोई अगोचर वस्तु अथवा उसे लखाने वाला तत्व है।' उनके अनुसार उस 'रामनाम' का 'बखान' तो सभी कर देते दीख पड़ते हैं, किन्तु उसका वास्तविक 'मर्म' कोई विरला ही जान पाता है। संत कबीर का, उसकी केवल चर्चा मात्र कर देनेवालों में पूरा विश्वास नहीं जमता। वे स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि मुझे केवल ऊपर की बात नहीं आती क्योंकि, उस अनिर्वचनीय का 'परिचय' पाये बिना, उसका रहस्य कभी प्रकट नहीं हो सकता।''[१६] उन्होंने फिर अन्यत्र इस प्रकार भी कहा है, ''राम के नाम का कोई 'निसान' (नगाड़ा) निरन्तर बजा करता है जिसका भेद किसी को ज्ञात नहीं।''[१७] उनका कहना है, 'अरे मनुज्य, अपने शरीर की तो खोज करो, तुम व्यर्थ की लड़ाई में क्यों लगे हुए हो ?—यह शरीर वस्तुतः 'कच्चा' है और केवल निरंजन का 'शब्द' 'रामनाम' ही 'सच्चा' कहे जाने योग्य है।''[१८] वे फिर कहते हैं, ''मैंने स्वयं अपने लिये, 'सार तत्व' के रूप में, 'रामनाम' को अपना लिया है और, मेरी दृष्टि में, अब सारा संसार ही व्यर्थ एवं असत्य प्रतीत होने लगा है। यहाँ तक कि इसका, अर्थात् उक्त 'शब्द' 'रामनाम' का, अपने ढंग से स्मरण करते-करते, मुझे कुछ न कुछ स्वयं राम का भी ज्ञान हो गया है।''[१९] अतएव, इसके आधार पर, ऐसा अनुमान भी किया जा सकता है कि उक्त 'शब्द' के रूप में, 'नाम' का अनहद नाद भी होना अधिक संभव है। इसके सिवाय, जहाँ तक 'ओंकार' के लिये कहा जा सकता है, संत-कबीर ने उसे भी सारी सृष्टि का 'आदिमूल' ही ठहराया है।[२०] 'हम सभी नाद (जीवतत्व) एवं 'व्यंद' (भौतिक शरीर तत्व) की बनी किसी क्षुद्र नौका के समान है जिसका कर्णधार 'रामनाम' है। इस प्रकार, यदि तुम उसका गुणगान कर लोगे तो, गुरु के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से, पार उतर जाओगे।''[३१]

संत कवियों की 'वृहत्त्रयी' के अन्यतम संत दादूदयाल ने भी नामतत्व का परिचय देते हुए, बतलाया है कि वास्तव में, 'राम का परमात्मतत्व अगाध, अनन्त एवं अदृश्य रूप है, उसके आदि या अंत का हमें कुछ भी पता नहीं चल सकता, अतएव, हमारे लिये यही उचित और सुविधाजनक होगा कि, हम उसके नाम का ही स्मरण कर लिया करें।''[२२] तात्पर्य यह कि, यदि हम उसकी 'आकृति-प्रकृति' के आधार पर, उसके व्यक्तित्व का साक्षात् परिचय प्राप्त कर पाने में असमर्थ हैं तो, हमारे लिए यही अच्छा होगा कि हम उसका स्मरण, कम से कम, वैसे किसी रूप में ही, कर लिया करें जो हमारे हृदय में, उसके प्रति विभिन्न भावों के अनुसार विद्यमान है। कारण यह कि वह तो, सर्वातीत होने की दशा में, हमारे लिये अपना हो ही नहीं सकता, केवल, नाम के माध्यम द्वारा ही, यह बोधगम्य होगा।[२३] इसी प्रकार संत दादूदयाल के शिष्य छोटे सुन्दर दास ने कहा है कि 'राम वा परमात्मतत्व का साक्षात्कार प्राप्त करने के उद्देश्य से, संतों ने नाम को, किसी ऐसे जहाज के रूप में, अपना लिया है जिस पर बैठकर अपार भवसागर को, एक पल में भी, पार कर लिया जा सकता है।[२४] इन्होंने एक स्थल पर यह भी बतलाया है कि, 'रामनाम का श्रवण कर उसका उच्चारण करते ही सुरति से हृदय के मध्य 'रंकार' के विषय में उनके गुरु भाई संत रज्जबजी का कथन है कि वह रकार वर्णमाला वाले ५२ अक्षरों के सागर में किसी अनुपम रत्न के समान है जिसे

का आधार समझकर उसे मैंने उपलब्ध कर लिया है। [५] इसी प्रकार मैं उस रकार में ही सदा रत रहता हुआ, मगन बना रहा करता हूँ।"[२६]

रामस्नेही संप्रदाय (सींथल-खेड़ापा शाखा) के प्रवर्तक संत जैमल दास का भी कहना है कि "मेरा नेह तो 'निर्मल धुन' के साथ लगा है जिसके द्वारा मेरे शरीए के भीतर प्रकाश हो आया है और नें मन ही मन रीझ रहा हूँ।"[२७] कहते हैं कि ये योगाभ्यासपूर्वक राम राम रटन करते हुए ही, अपने जीवन-काल में योगारूढ़ हो गये थे। इनके शिष्य संत हरिरामदास की प्रसिद्ध रचना 'गगर निशानी' से पता चलता है कि उन्होंने भी, 'सतगुर' से मिलकर, अपने अन्तस्तल में, उनकी प्रेरणा का अनुभव किया तथा उसके परिणाम-स्वरूप 'सारशब्द' को प्रत्यक्ष कर लिया और तन, मन, एवं रसना से, 'रामहिराम' रटने लग गये।"[२८] इन्होंने अन्यत्र भी बड़े स्पष्ट शब्दो में बतलाया है कि 'सब संसार सुन ले, मैं एक शब्द के द्वारा कहकर समझा देना चाहता हूँ। जो 'रामनाम' है वही 'सारशब्द' है तथा, जो इस विषय में, अन्य कोई कथन है वे छार के समान हैं।'[२९] इस 'नाम' के परिचय का उन्होने अपने नाभि के भीतर प्राप्त करना तथा इसके अनन्तर गगन में ध्यान लगाना बतलाया है तथा उन्होंने इसी बात को इस प्रकार भी कहा है कि 'मैंने जैसा देखा है वैसा ही कथन कर रहा हूँ। मैंने राम का परिचय, तन मन के भीतर ही, पाया है।'[३०] संत रामदास के अनुसार 'साढ़े तीन करोड़ नाड़ियों में निरन्तर एकमात्र 'रंकार' की धुन लगी रहती है जिसका कोई वारपार नहीं है तथा उसी का स्मरण किया जाना वस्तुतः 'सहजस्मरण' कहलाता है।[३१] इसके सिवाय रामस्नेही-संप्रदाय (शाहपुरा शाखा) के प्रवर्त्तक संतरामचरण ने भी लगभग ठीक इसी प्रकार की बातें, अपनी रचनाओं के द्वारा, बतलायी हैं। इनका भी कहना है, 'शब्द ब्रह्म का निवास हृदय के भीतर है जहाँ पर उसका गुंजार होने पर सारी की सारी नाड़ियाँ जागृत हो उठती हैं।'[३२] फिर 'जहाँ परसुरति सुन्दरी, शब्द के साथ जा मिलती है वहाँ 'रंकार' पुरुष रहा करता है तथा उसे पूर्णानन्द की प्राप्ति होती है।'[३३]

राधास्वामी सत्संग के प्रवर्त्तक संत शिवदयाल जी के 'सारवचन', पद्य एवं गद्य दोनो के देखने से, नामतत्व-संबंधी उनके विचारों के विषय में, बहुत कुछ पता चल सकता है तथा उसके स्वरूप का भी कुछ अनुमान किया जा सकता है। उनका कहना है कि 'नाम वर्णात्मक माना गया है जहाँ 'नामी' ध्वन्यात्मक रूप में ही उपलब्ध हो सकता है। वर्ण के द्वारा, सुरत एवं ज्ञान को उपयुक्त बनाकर, गगन की धुन-विषयक साधना करो और इस प्रकार, 'धूनी' एवं 'धुन' की एकता का बोध प्राप्त करके, सुरत में शब्द को पहचान लो जिसके परिणाम-स्वरूप 'सुरत' एवं 'शब्द' दोनों एक हो जायँगे और नाम का ध्वन्यात्मक रूप दीख पड़ने लगेगा।'[३४] उन्होंने, इसके पहले, शब्द की चर्चा करते समय, इस संबंध में, यह भी कहा है, 'शब्द को ही सब कुछ का आदि एवं अन्त भी जानो। शब्द एवं सुरत दोनों धारा के समान हैं तथा ये दोनों अनामी के प्राणस्वरूप हैं। जब शब्द गुप्त रहा करता है तो वह 'अनाम' होता है और वही प्रकट होने पर 'नाम' कहलाता है। जिस प्रकार अग्नि का रूप पाषाण कहा जा सकता है उसी प्रकार अनाम का भी रूप 'शब्द' ठहराया जा सकता है। शब्द ही सतनाम है सत् है, नि अक्षर है, अक्षर है, सोहं है एवं रर भी है[३५] सुरत

के 'तिल' वाले द्वार तक पहुँच जाने पर उसे, अपनी दाहिनी दिशा की ओर से, शब्द की धारा आती जान पड़ेगी।'[३६] उन्होंने इस बात को अन्यत्र (सारवचन, वार्तिक दें) इस प्रकार भी बतलाया है, 'नाम दो प्रकार का है वर्णात्मक और 'धुनात्मक, का फल बहुत है और वर्णात्मक का थोड़ा – जिसको डर चौरासी का है उसको मुनासिब है कि धुनात्मक नाम का प्राप्ती वाला सतगुरु खोजे तो चौरासी के चक्कर से बचेगा और जो वर्णात्मक नाम मे रहे तो उनकी चौरासी नही छूटेगी।'[३७]

संत तुलसी साहब (हाथरस वाले) की 'घट रामायन' रचना से पता चलता है कि उनके अनुसार 'सर्वप्रथम केवल 'अनाम' एवं 'अकाय' पुरुष था जिसकी हिलोर से 'सतमाया' हुई तथा, माया एवं नाम के एकत्र हो जाने पर 'सत' एवं 'नाम' भी एक सूत्र में बद्ध हो गए जिसके फलस्वरूप 'सत्तनाम' का आविर्भाव हुआ।'[३८] इसी 'सत्तनाम' का उन्होंने 'चौथे पद' में रहना भी बतलाया है तथा, इसके साथ ही, उन्होंने यह भी कह दिया है कि वही स्थान उस 'वाहिगुरू' शब्द का भी है जिसे अपनाने वाले गुरु नानकदेव ने 'सत्तनाम' की स्थिति को उपलब्ध किया था।'[३९] उन्होंने इस बात की चर्चा कि, किस प्रकार 'अनाम' एवं 'अकाय' पुरुष से पीछे चौथापद 'सत्तनाम' हुआ फिर अन्यत्र भी की है।'[४०] उनके मतानुसार 'वे जीव धन्य हैं जिन्होंने अपने आपको जान लिया है और इसी प्रकार जिन्होंने उलटे काल को विजित भी कर दिया। ऐसे लोग सदा, नाम की सहायता द्वारा ही सफल हुआ करते हैं और वे, इसी कारण, 'निःअक्षर नाम' के अन्तर्गत, प्रवेश भी कर जाते हैं तथा नाम के साक्षात्कार से ब्रह्मरूप भी हो जाते हैं।[४१] इसी प्रकार संत तुलसी साहब ने, कहीं-कहीं पर, ऐसे विभिन्न स्तरों की ओर भी संकेत किया है जिनके आधार पर, पहुँचे हुए संतो की स्थिति-विशेष की कुछ कल्पना की जा सकती है तथा जिनका कुछ और भी स्पष्टीकरण 'राधास्वामी सत्संग' द्वारा किया गया मिलता है। संत शिवदयाल जी ने 'धुर अस्थान' को 'अनामी' और 'अकह' बतलाया है तथा उसके 'नीचे, दो 'अस्थान' बीच में छोड़कर 'सत्तनाम याने सत्तलोक' का अस्तित्व माना है जहाँ से 'सत्त' शब्द का जहूर हुआ तथा जिसे महानाद और 'सारशब्द' भी कहते हैं।[४२]

संत कवियों द्वारा किये गये उपर्युक्त कथनों के ऊपर एक साथ विचार करने पर हमे ऐसा लगता है कि संत कबीर ने जिस 'रामनाम' को 'अगोचर वस्तु' को लखाने का साधन ठहराया है उसी को संत दादूदयाल ने 'अगम्य' का 'अनुभवगम्य रूप' तुलसी साहब ने 'अगम की हिलौर' से उत्पन्न 'सत्तनाम' तथा संत शिवदयाल जी ने 'गुप्त शब्द' का प्रकट रूप बतलाकर उस 'धुन' के माध्यम से 'धुनी' की एकता का अनुभव किया जाना भी संभव माना है। संत कबीर उसे अन्यत्र कहीं 'शब्द' अथवा 'ओंकार' द्वारा भी अभिहित करते जान पड़ते है। संत जयमल उसे 'निर्मलधुन' की संज्ञा देते हैं। सुन्दरदास, रज्जब जी, रामदास एव रामचरण उसे 'रंकार' की ध्वनि के रूप में पाते हैं तथा संत हरिरामदास उसे 'सारशब्द' कहकर उसकी रामनाम के साथ अभिन्नता भी प्रकट कर देते हैं। संत रामचरण ने उससे, एक स्थल पर 'शब्द ब्रह्म की गुंजार' तथा संत सुन्दर दास' ने 'अनहद' का नाम देकर भी. हमे परिचित कराया है केवल नानकदेव के इस कथन मे कि जेता कीता तेता नाऊँ विणु

नावें नाहीं को थाउँ'[४३] तथा गुरु अर्जुन देव की लगभग इसी प्रकार की कुछ अभिव्यक्तियों के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि यहाँ उसे समस्त सृष्टि का ही परिचायक समझा गया होगा। इसी कारण उसे वहाँ पर केवल अनहद वा ओंकार मात्र का ही बोधक नहीं ठहराया गया होगा। इसी प्रकार हम, इस सम्बन्ध में, यह भी कह सकते हैं कि, 'राधास्वामी सत्संग' के अनुसार, 'सतनाम' को किसी स्तर विशेष का सूचक भी मान ले सकते हैं।

परन्तु इस प्रकार का कथन, केवल संतकवियों की उपलब्ध रचनाओं में ही, सर्वप्रथम, नहीं मिलता। 'माण्डूक्य उपनिषद्' की प्रथम पंक्ति 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्' तथा 'भूतं भवत् भविष्यदिति सर्वमोंकार एव'[४४] आदि से भी, हमें पता चलता है कि 'ॐ' यह एक अक्षर मात्र ही सारे जगत के रूप में विद्यमान है तथा भूत, वर्तमान एवं भविष्य में रहने वाला भी केवल वही है। इसके अतिरिक्त, 'श्रीमद्भगवद्गीता' के अन्तर्गत, हमें यह भी कहा गया दीख पड़ता है कि 'ऊंकार मात्र एकाक्षर ब्रह्म है जिस कारण, इसका उच्चारण करता हुआ जो मुझे स्मरण करता है उसे परमगति की प्राप्ति होती है।'[४५] पातंजल योगवाले एक सूत्र में भी उस परमतत्व का वाचक 'प्रणव' अर्थात् उक्त ऊंकार को ही ठहराया गया है,[४६] और तदनन्तर उसके जप एवं तदनुसार उसके अर्थ की भावना निरन्तर करते रहना योगियों का परमकर्तव्य भी निर्धारित किया गया है। यहाँ पर 'वाचक' शब्द वस्तुतः 'नाम' शब्द का ही एक पर्याय है तथा ऊंकार भी उस मूल ध्वनि को ही सूचित करता जान पड़ता है, जिसे संतों ने अपने यहाँ 'सार शब्द' अथवा केवल 'शब्द' कहकर उसे बहुत बड़ा महत्व प्रदान किया है। इसके ध्वन्यात्मक एवं वर्णात्मक दोनों प्रकार के रूपों को 'नाम' की संज्ञा दी जाती है तथा इसी से समस्त अनुभवगम्य सृष्टि का उत्पन्न एवं विकसित होना भी समझा जाता है। इसी के आधार पर, हमें उस परमतत्व का भी संकेत मिलता है जो, हमारे लिए सर्वथा अगम एवं अतीत है और इसे, इसी कारण, हम 'अगोचर' एवं 'अकह' और 'अनिर्वचनीय' भी कहते हैं'।

नाम तत्व के विषय में विचार करते समय हमें, स्वभावतः कतिपय उन शब्दों का भी स्मरण हो आता है जिनका प्रयोग, ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म, ताओधर्म एवं पारसीधर्म आदि के भी द्वारा, किया गया मिलता है। ईसाई धर्म के अनुसार सर्वप्रथम 'दि वर्ड' अर्थात् 'शब्द' का ही अस्तित्व रहा और तदनन्तर सृष्टि की रचना की गई। उसके लिए वैसी दशा में 'लोगस' जैसे एक ग्रीक शब्द का भी प्रयोग किया जाता है जिसका अभिप्राय 'ईश्वरीय शब्द' होता है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि जिस प्रकार उक्त ऊंकार के द्वारा जगत् के उद्भव एवं विकास का अनुमान किया गया है ठीक उसी ढंग से ईसाई धर्म के अनुयायियों ने भी उसका होना स्वीकार किया है। इसके सिवाय जहाँ तक इस्लाम धर्म के 'इस्मे आजम', 'ताओधर्म' वाले 'ताओ' अथवा पारसी धर्म के 'आओश' जैसे शब्दों के लिए भी कहा जा सकता है, हमें पता नहीं कि उनके विषय में, इस दृष्टि के अनुसार, किस प्रकार का मत प्रचलित समझा जाता है। केवल इतना ही कह सकते हैं कि, उनके यहाँ तथा अन्य कई धर्मों के अनुयायियों में भी, नाम को यथेष्ट महत्व प्रदान किया जाता दीख पड़ता है तथा इसी कारण, वहाँ इसके किसी न किसी रूप का स्मरण किया जाना भी विहित है

भारतीय औपनिषदिक दर्शनों में तो दृश्यमान् जगत को 'नामरूप' की संज्ञा दी गई दीख पड़ती है जिसके अनुसार 'मुण्डकोपनिषद्' में कहा गया मिलता है. 'जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ, अपने अपने नाम एवं रूप का त्याग करके, समुद्र में खो जाया करती हैं, उसी प्रकार विद्वान भी 'नामरूप' से मुक्त होकर, अंत में, उस परात्पर दिव्य पुरुष में लीन हो जाता है।'[४७] यहाँ पर 'नाम-रूप' शब्द में जुड़े 'नाम' एवं 'रूप' के विषय में, पृथक्-पृथक् विचार करते समय, प्राय: समझा जाता है कि इनमें से केवल द्वितीय अर्थात् 'रूप' मात्र ही सारे विश्वात्मक प्रसार का हमें बोध करा देता है और प्रथम अर्थात् 'नाम' तत्वत: उस मूल 'शब्द' का प्रतिनिधि हो सकता है जो कभी, अव्यक्त परमतत्व के व्यक्तीकरण की दशा मे, पहले पहल 'वाचू' बनकर प्रकट हुआ था, उधर 'नास्तिक' ठहराये जाने वाले बौद्ध दर्शन के अनुसार भी, 'नामरूप' का परिचय देते समय, इस प्रकार कहा गया मिलता है कि 'जितनी भी वस्तुएँ हमें बाह्यरूप में दीख पड़ती है वे सभी 'रूप' हैं तथा जितने हमारे मानसिक सूक्ष्मधर्म हैं वे सभी 'नाम' हैं'[४८] अर्थात् 'नाम' शब्द के द्वारा, हमें चारों संग्रहात्मक मानसिक अवस्थाओं (जैसे, संज्ञा, वेदना, संस्कार एवं विज्ञान) तथा 'निब्बाण' का बोध होता है और इसी कारण, हम उसे 'अरूप' भी कह दिया करते हैं।[४९] अनात्मवादी विचारधारा के कारण यहाँ पर वैसी दशा में किसी के किसी में विलीन होने का प्रश्न ही नहीं उठता जान पड़ता और न यह समस्या ही हमारे सामने आ पाती है कि परमसत्य रूपी परमात्मतत्व का, वैदिक ऋषियों की भाँति, साक्षात्कार किस प्रकार किया जाय।

परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में, हमारे लिए, यह बात भी कम उल्लेखनीय नहीं कि, उपर्युक्त मत को सिद्धान्तत: स्वीकार करनेवाले बौद्धधर्म के अनेक संप्रदायों के अंतर्गत, स्वयं गौतम बुद्ध को ही 'परम सत्य' के रूप में अपना लिया गया है तथा तदनुसार वहाँ पर, उन्हें अपना परम आराध्य मानते हुए, उनके नामस्मरण की साधना तक भी काम में लायी जाती आई है। उदाहरण के लिए, उसके 'जैन' (ध्यान) संप्रदाय वाले सत्य का साक्षात्कार में तथा बौद्ध-जीवनादर्शों की उपलब्धि में सिद्धि प्राप्त कर लेने के उद्देश्य से प्रेरित होकर, भगवान् बुद्ध के नाम का जप किया करते हैं। इसी प्रकार, उसके एक अन्य संप्रदाय अर्थात् 'सुखावती संप्रदाय' वाले भी अमिताभ बुद्ध का नाम जपा करते हैं और इस संबंध में 'अमिताभबुद्धनामजप गाथा' तथा 'अमिताभनामजप' जैसी कतिपय पुस्तकों के रचे जाने की भी चर्चा की गई दीख पड़ती है।[५०] वास्तव में भगवान् बुद्ध ऐसी दशा में, स्वयं परमसत्य अथवा 'सत्यनाम' का रूप ग्रहण कर लेते जान पड़ते हैं तथा इसी दृष्टि से, 'सच्चनाम' का प्रयोग भी उनके लिए किया गया मिलता है। बौद्ध धर्मग्रन्थ 'अंगुत्तर निकाय' के अंतर्गत उनके लिए यह 'सच्चनाम' शब्द बार-बार प्रयुक्त हुआ हैं।[५१] इसी प्रकार, उनके लिए, वहाँ पर कभी-कभी 'सच्चसह्वय'[५२] अर्थात् सत्यनाम-धारी जैसे कतिपय अन्य शब्द भी काम में लाये गये हैं। भगवान् बुद्ध के लिए, उक्त प्रकार से, 'सच्चनाम' का उपयोग किया जाना तो हमें यहाँ पर उस 'सतिनामु' शब्द का भी स्मरण दिलाता है जिसे सिखधर्म के अन्तर्गत विशेष महत्व दिया जाता है तथा जिसे के रूप में अन्य कई संतों ने भी है और इसके आधार पर ऐसा

अनुमान कर लेना भी असम्भव नहीं कि उपर्युक्त पालि शब्द सञ्ञनाम से ही कभी यहाँ पर भी कोई प्रेरणा मिली होगी।

नामसाधना

संत कवियों ने, नाम-तत्व की चर्चा करते समय, चाहे उसे 'ध्वन्यात्मक' रूप मे बतलाया हो अथवा 'वर्णात्मक' मात्र ही कह डाला हो तथा, इसी प्रकार, उसे चाहे 'रूपात्मक' ठहरा दिया हो अथवा 'अरूपात्मक' मान लिया हो, इसमें सन्देह नहीं कि, उनमें से सभी ने उसे, अपने लिए, एकमात्र अमोघ साधन स्वीकार किया है, और उसके प्रति उन्हें पूर्ण आस्था भी है। उन्होंने, संभवतः इस बात को भली भाँति समझ लिया है कि जिस अद्वितीय और अनुपम सत्ता को वे 'सत्' वा परमतत्त्व कहते है तथा जिसे वे इन्द्रियातीत और, इसी कारण, ज्ञान के लिए अगम्य किन्तु, इसके साथ ही, अनादि, अनन्त एवं अनिर्वचनीय तक भी स्वीकार कर लेना चाहते हैं, उसके साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर पाना असंभव नहीं है। इसके सिवाय, हमें ऐसा लगता है कि उन्हें इस बात में पूर्ण विश्वास भी होगा कि, यदि इसके लिए कोई भावनात्मक साधना अपने काम में लायी जा सके तो, हमें इसमें अच्छी सफलता भी मिल सकती है। 'सुमिरण' अथवा 'नाम-साधना' को उन्होंने इसी दृष्टि से अपनाया है तथा, जैसा हमें उनकी अनेक रचनाओं का अध्ययन करने समय, पता चलता है, उन्होने, स्वयं अपने जीवन में, उसे प्रत्यक्ष प्रयोग में लाकर, उसकी उपयोगिता की परीक्षा तक भी कर ली है। उसके परिणाम द्वारा वे सभी अपने को सन्तुष्ट प्रकट करते हैं तथा, इसीलिए, वे सब किसी को इसका उपदेश भी दिया करते हैं। परन्तु उक्त साधना की जिस प्रक्रिया-विशेष को उन्होंने, स्वयं अपने काम में लाया है उसका उन्होंने, अपने किसी सतगुरु के द्वारा रहस्यमम ढंग से, बतलाया जाना भी कहा है जिस कारण उनके वैसे कथन में कुछ अस्पष्टता भी आ जाती है।

उनकी रचनाओं के अन्तर्गत जो कुछ हमें इस विषय में कहा गया मिलता है उसके अनुसार हमें पता चलता है कि उनके द्वारा निरूपित की गई उक्त साधना के, एक से अधिक, रूप हो सकते हैं। उदाहरण के लिए कभी-कभी तो वह केवल नामोच्चारण मात्र का ही रूप धारण कर सकती है, कभी उसकी प्रक्रिया का आधार, किसी माला-विशेष वाली 'मनियों' अथवा हाथ की अँगुलियो के सहारे की जाने वाली, कोई गिनती हो सकती है। यह भी संभव है कि, उसे, अपने भीतर होने वाले किसी विशिष्ट अनाहत नाद के अनवरत श्रवण के रूप में, अपनाया जाय अथवा इसी प्रकार, कभी इसे अपने स्वास-प्रश्वास के साथ किये जाने वाले किसी नाम वा मंत्र जाप के रूप में ही किया जाय। अपने इस अन्तिम रूप मे नाम-साधना, वस्तुतः मन्त्र-साधना का भी रूप ग्रहण कर ले सकती है जिस कारण इसका उल्लेख, उपलब्ध संत-साहित्य के अन्तर्गत, बहुत कम किया गया दीख पड़ता है। इसके सिवाय, इस संबंध में, यहाँ पर यह भी कहा जा सकता है कि जिस किसी नाम-विशेष को लेकर ऐसी साधना चला करती है उसके लिए उनका कोई निश्चित प्रबल आग्रह नहीं है और न यही कहा जा सकता है कि उक्त अनाहत नाद का ही रूप क्या होगा सब सम्मत नियम

केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वैसी साधना केवल यंत्रवत् न चला करे, जिस नाम को लेकर वह चले उसकी भावना के साथ उसका लगाव भी बना रहे तथा वह भरसक बराबर चलती रहे। नाम-साधना की ऐसी एकतानता हमारी भावना को क्रमशः दृढ़तर बना सकती है तथा उसे उसी प्रकार घनीभूत भी कर सकती है जिसका एक परिणाम यह हो सकता है कि ऐसे साधक के जीवन में कोई आमूल परिवर्तन भी आ जाय।

सन्त कबीर का कहना है कि 'रामनाम' का उच्चारण मात्र किया करना किसी काम का नहीं। 'यदि केवल 'राम' कह देने मात्र से किसी साधक को गति मिल जाय तो वह ऐसा ही होगा जैसे खांड कह देने से मुख मीठा हो जाय, जल कह देने से प्यास बुझ जाय अथवा भोजन कह देने से ही किसी की भूख मिट जाया करे। 'हरि' का नाम तो कोई तोता भी ले लिया करता है जब वह किसी मनुष्य के साथ रहा करता है, किन्तु जब कभी वह उडकर जगल में चला जाता है तो वह उसे भूल जाता है[५३] आदि। फिर उनका यह भी कथन है कि यदि कोई गोपाल से मिलने का मर्म नहीं जानता तो उसके अपने गले में जयमाला डाले रहने से क्या हुआ? कोई पशु प्रतिदिन 'हरहाई' करता है, इसलिए उसके गले में काठ लटका दिया जाता है तो क्या उसका स्वभाव छूट जाता है? श्वेत वेश-भूषा हो, किन्तु करनी काली हो तो क्या लाभ? तथा, यदि कोई बिना प्रेम के ही, रोने लगे तो उससे भी क्या हुआ[५४] आदि। अतएव वे कहते हैं कि राम के साथ तू इस प्रकार 'लय लगा कि चरणों के ही नृत्य होने लग जाय तथा बिना जिह्वा के उसका गुणगान भी होने लगे[५५] आदि। राम का भजन करना केवल उसी को आता है जिसमें कभी आतुरता नहीं होती तथा जो सत्य, सन्तोष एवं धैर्य को अपनाये रहा करता है—राम का सच्चा भक्त सदैव सम-दृष्टि एवं शीतल रहता है। उसके मन में कभी किसी प्रकार की दुविधा नहीं प्रवेश करती है और ऐसे ही राम के दास से मेरा मन भी मानता है।[५६] तदनुसार उन्होंने अपनी रसना को सम्बोधित करते हुए भी, उसे उपदेश दिया है कि 'तू रामगुण का आनन्द लेती हुई, उसके रस का पान करो उस गुणातीत अनमोल पदार्थ को अपनाओ। हे भाई, निर्गुण ब्रह्म का नाम लो जिसके स्मरण से शुद्धि बुद्धि तथा सुमति प्राप्त हो सके।—अरे अभागे, तू राम को नहीं जप रहा है, जो रामरस का स्वाद लेने वाले रहे हैं वे सभी तिरे हैं और केवल बकवादी मात्र ही डूबे हैं[५७] सत कबीर स्वयं उस राम-रस के स्वाद से भली-भाँति परिचित हैं और इसलिए उनका, अपने विषय में भी, कहना है, 'मेरा मन राम का स्मरण करता है, मेरा मन राम ही हो रहा है, इसलिए अब मैं किसके सामने अपना सिर झुकाऊँ।[५८] तथा 'मैं' 'तू-तू' करता हुआ अब स्वयं भी 'तू' हो गया और मुझमें अब 'मैं रह ही नहीं गया है।—अब मेरी दृष्टि जिधर जाती है उधर केवल तूँ ही तूँ दीख पड़ता है।[५९]

सिखों के गुरु अमरदास का कहना है कि राम-राम तो सभी कह लेते हैं, किन्तु राम कहने मात्र से ही काम नहीं चल सकता, यदि गुरु के प्रसाद से राम अपने मन में बस जांय तभी, हमें किसी फल की प्राप्ति हो सकती है। जिसके भीतर गोविन्द के प्रति जागृत हो जाती है उसे हरि कभी विस्मृत नहीं हो सकता तथा वह सदा उसका चिन्तन करता रहता है।'[६०] इनका भी इसीलिए अपनी रसना के प्रति उपदेश है कि तू हरिनाम के रस को चखती रहा

कर जिससे मन में पूर्ण निर्मलता आ जाय। 'इसी प्रकार गुरु अर्जुन देव का तो यहाँ तक कथन है कि 'सच्चे हृदय से यदि हरि का नाम, केवल एक निसिख (निमेष) मात्र भी, लिया जा सके तो, यम के मार्ग में किसी बड़ी से बड़ी बाधा पर भी सरलतापूर्वक विजय प्राप्त कर ली जा सकती है।[६१] फिर भी अपने जीवन में हरि के नाम का जप निरन्तर होता रहना ही श्रेयस्कर होता है और सन्तों ने इस 'अजपा जाप' की संज्ञा दी है, गुरु नानक देव का कहना है कि 'व्रत लेने वाले साधक के लिए यह अपना कर्तव्य हो जाता है कि वह निष्काम बने रहकर बराबर 'अजपा जाप' करता रहे तथा, इस प्रकार उसके मुख से निरन्तर नाम की धारा प्रवाहित होती जान पड़े। तीनों लोकों में एकमात्र हरि को ही जानना सत्य का साक्षात्कार कर लेना है और केवल इतना ही सारी पवित्रता एवं संयम का सार है।[६२] इस प्रकार का जप, साधक की पूर्ण मौन वाली स्थिति में भी, सदा सक्रिय बना रहा करता है। इनका तो अन्यत्र यह भी कहना है, (अजपा जाप के रहते) सुषुम्ना नाड़ी आपसे आप खुल जाया करती है और, इसके परिणाम-स्वरूप, शून्य मण्डल में 'शिवं जप' का प्रादुर्भाव हो जाया करता है, अनेक प्रकार के राग सुन पड़ने लग जाते हैं हृदय-कमल उलट जाता है जिसमे हरिनाम रूपी रसामृत भर आता है, मन का इधर-उधर आना जाना सर्वथा बन्द हो जाया करता है तथा, वैसी दशा में, अपने प्रत्येक श्वास-प्रश्वास में भी निरन्तर अजपा जाप चलने लगता है जो कभी भूल नहीं पाता। इस प्रकार, साधक आदि युगादि में भी स्थित हो जाता है, इस कारण जो कोई, शब्द की खोज करके, वैसी दशा को प्राप्त कर लेता है। उसका मै नानक, दास बन जाने को तैयार हूँ।[६३] वास्तव में यही अजपा जाप की यह अन्तिम विजय वाली स्थिति है जिसे सभी सन्तों ने अपना परम अभीष्ट माना है। गुरु नानक देव के अनुसार इस प्रकार की स्थिति को ही प्राप्त करके नाम में रत रहने वाला वैरागी अपने घर में स्थिर हो जाता है।[६४]

नामस्मरण के विषय में चर्चा करते समय संत दादूदयाल ने भी, उसके सतत चालू रहने पर ही, अधिक बल दिया है। इसके अनुसार 'नाम' नीको है उसे अपने हृदय से कभी विस्मृत न करो, उसे श्वास-प्रश्वास के साथ जारी रखे जिससे उसके द्वारा ध्वनित होने वाले प्रतीक की भावना कभी दूर न होने पावे। [६५] फिर 'नाम का स्मरण, 'सपीड़ा' (गहरी अनुभूति के साथ), करो, प्रीति के साथ गुणगान करो और हेत के साथ उसमे लीन बने रहो।"[६६] 'राम नाम तो सभी कह लेते हैं, किन्तु उसके अपने-अपने कथन मे मे अन्तर है, कोई, एक से मिलकर फिर अनेक में लौट जाता है, किंतु कोई ऐसा भी हुआ करता है जो 'एक' में जाकर उसमें सदा के लिए लीन हो जाया करता है।"[६७] संत सुन्दर दास ने तो, 'सुमिरण' का परिचय देते हुए' यह भी कहा है कि "सुमिरण की दशा वह है जिसमें साधक तल्लीन बना विचरण करे, उसके गुण एवं शरीर क्षीण हो जाय तथा उसकी सारी कल्पनाएँ तक क्षीण जान पड़ने लग जाय।"[६८] इसी प्रकार संत रज्जब जी ने कहा है, "मुख से भजन करने वाला 'मानव' की कोटि का साधक हुआ करता है, हृदय के साथ भजन करने वाला 'देव' तुल्य बन जाता है तथा जो जी के साथ भजन किया करता है वह ज्योति में लीन हो जाता है[६९] इसी प्रकार यही अजपा

जाप है जिसके विषय में इन्होंने फिर कहा है कि 'अजपा जाप' की स्थिति में परमात्म तत्व मन, पवन एवं सुरति इन तीनों का हाथ स्वयं पकड़ लेता है और उन्हें लीन कर दिया करता है।"७० संत सुन्दर दास ने अपनी एक साखी द्वारा यह भी बतला दिया है कि जो भजन किया करता है वह ऐसा करते करते अपने उस इष्टदेव का रूप ग्रहण कर लेता है, किंतु, फिर वैसी अवस्था में भी, उसकी भजन वाली रुचि कभी जा नहीं पाती, भजन ऐसा अनुपम होता है।'७१

परन्तु रामस्नेही-संप्रदाय (सींथल-शाखा) के आचार्य हरिरामदास ने अपनी नाम-साधना का परिचय निम्न रूप में दिया है। उनका इस विषय में कहना है कि जिस समय उन्हे सतगुरु की प्रेरणा द्वारा' सार शब्द' का 'ओलखान' हो गया और वे, अपने तन मन से तल्लीन होकर रामहि राम की 'रट' निरन्तर लगाने लगे तो, उनके ऊपर प्रेम की ऐसी वर्षा हो गई कि उनका कंठस्थ कमल (संभवत: विशुद्धि चक्र) विकसित हो उठा और, उसके प्रस्फुटित होते ही, एक विलक्षण 'टेर' सुन पड़ने लग गई। रग-रग में कुछ विचित्र प्रकार की प्रक्रिया आरंभ हो गई, 'ओऊं' (संभवत: ऊंकार) तथा 'सोऊं' (संभवत: सोई) दोनो की स्थिति आ गई जान पड़ी और 'पारब्रह्म' की अनुभूति के परिणाम स्वरूप, मुझे ऐसा लगा कि 'राम, शब्द वाले 'मकार' का उच्चारण बन्द हो गया है। उस समय ऐसा जान पडता था। जैसे केवल उसके अर्द्ध भाग अर्थात् 'रा' मात्र की ही पुनरावृत्ति होती रही है कुभक लग गया है, त्राटक' की भाँति अपनी दृष्टि जम गई है, सुषुम्ना के मार्ग द्वारा गति सभव हो गई, षट्चक्रों का वेधन पूरा हो जाने से, मन ब्रह्मरंध्र में प्रवेश कर गया है तथा चौथे पद की अवस्था आ गई है, जहाँ समाधि लग जाती है। सब सूझ बूझ भूल सी गई और, जब सुख एक बार वैसी स्थिति में आ गई तो, फिर वह वहाँ से टल नहीं सकी, शिव एवं शक्ति का सम्मिलन हो गया तथा जीवन्मुक्ति हो गई। जो मुझे अनुभव हुआ उसका यथावत् वर्णन कर पाने में असमर्थ हूँ और कहते कुछ संकोच भी हो रहा है।"७२ इस प्रकार इनसे इस कथन से हमें ऐसा लगता है कि इनकी नाम-साधना का रूप सामान्य योग-साधना से अभिन्न-सा भी कहला सकता है। अन्तर यह जान पड़ता है कि यहाँ पर किन्ही आसनादि को कोई महत्व नहीं दिया गया है तथा 'रामनाम' का सहारा भी लिया गया है। रामस्नेही-संप्रदाय वाली शाहपुरा शाखा के आचार्य संत रामचरण की रचनाओं से भी हमे लगभग इसी प्रकार की प्रक्रिया का प्रयोग किया जाना प्रकट होता है। यदि कोई अन्तर दीख पड़ता है तो, केवल इतना ही कि, वहाँ पर इसके साथ ही, प्रेमभाव अथवा गोपीभाव तक का भी समावेश कर लिया गया है जिस कारण वहाँ पर मधुरोपासना की भी एक झलक आ गई है।"७३

संत तुलसी साहब (हाथरस वाले) भी प्राय: 'सुरति सोहागिन' के अपने प्रियतम से मिलने के लिए, शरीर के भीतर गगन की ओर गमन करने 'शब्द' को निरखने तथा प्रियतम का स्पर्श कर उसके साथ 'बुंदासमद' के समान मिल जाने का ही वर्णन किया है किंतु वास्तव मे इन्होंने नामस्मरण की विधि का कोई विस्तृत परिचय भी नहीं दिया है। इनका ध्यान अधिकतर 'पिंड रहस्य' की ओर आकृष्ट हुआ है तथा इन्होंने मन को वश में लाने

अभ्यास पर भी, बल दिया है जो इनके अनुसार कदाचित् योग-साधना की किसी न किसी प्रक्रिया-विशेष के द्वारा भी, संभव हो सकता है। हां 'नाम' के महत्व को इन्होंने अवश्य स्वीकार किया है तथा उसके स्वरूप की ओर भी संकेत करते रहने की चेष्टा की है। इसी प्रकार हम देखते हैं कि 'राधास्वामी सत्संग' वाली उपलब्ध रचनाओं के आधार पर भी हमें, इस सम्बन्ध में, यथेष्ट जानकारी नहीं हो पाती। 'सत्संग' द्वारा प्रदर्शित अपनी प्रमुख साधना की बातों को भरसक रहस्यमयी बनाये रखने की प्रवृत्ति ने उन्हें बहुत कुछ अस्पष्ट रूप दे डाला है और वे, सर्व साधारण के लिए, प्राय: बोधगम्य तक भी नहीं समझी जाती। कहते हैं कि, बिना सतगुरु की शरण में गये तथा उसके द्वारा सुझाई गई 'जुगति' के सहारे प्रयास किये, सफलता नहीं मिल सकती केवल उसी दशा में सारी विश्व, रचना के मूल स्रोत रूप 'सोआमी' (स्वामी) तथा उसके चेतनधारा के रूप में सदा प्रवाहित होने वाली शक्ति का, जिसे यहाँ 'राधा' कहा गया है, हमें कुछ परिचय मिल जाता है तथा, केवल तभी, हम 'सुरत' शब्दयोग के अभ्यास द्वारा क्रमश: अपने अभीष्ट की प्राप्ति भी कर सकते हैं। कहा जाता है कि, यदि इस प्रकार, कोई साधक अपनी आंखें बन्द करके, किसी प्रतीक पर, अपना मन केन्द्रित करता है और वह, 'राधा सोआमी' 'राधा सोआमी' का मन्द उच्चारण करता हुआ, अपने उपर्युक्त सतगुरु के रूप की अथवा दीपक की लौ की कल्पना कर, उसे वहाँ प्रतिष्ठित कर पाता है तथा जब वह अपने दोनों हाथों को अपने ललाट पर रखकर उनकी कनिष्ठिकाओं को, दोनों आँखों के बीच, लगा देता है और उनके दोनो अंगूठो द्वारा अपने दोनों कानों को भी बन्द कर देता है तो, उसे क्रमश: कुछ ध्वनि सुन पड़ने लगती है, और अंत में, स्वयं 'अनहद' का भी अनुभव हो जाता है। अतएव 'सुमिरन' से तात्पर्य यहाँ पर मौन जप द्वारा चित्त की वृत्ति को उन्मुख करना तथा इसी प्रकार, 'भजन' का भी अभिप्राय उसे 'शब्द ब्रह्म' में लीन कर देना ही कहा जा सकता है और, इसी के अनुसार यहाँ पर नाम-स्मरण को भी समझा जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संतों की वानियों में हमें नाम-साधना का भी रूप केवल एक ही प्रकार का नहीं मिलता। एक ओर जहाँ हम उसे, अपने इष्टदेव के विषय में उनके द्वारा किये गये गुणगान के रूप में पाते हैं तो दूसरी ओर हमें ऐसा भी लगता है कि वह कहीं कोरा किसी 'अनहद नाद' का श्रवण मात्र ही तो नहीं होगा। प्रथम की दशा में हमें संत कवि प्राय: वैसे नामों का ही स्मरण करते जान पड़ते हैं, तो, साधारणत: सगुणवादी भक्तों के लिए भी, अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं और कतिपय संतों जैसे संत नामदेव, गुरु नानक देव, संत गुलाल साहब, आदि को तो हम उनका कीर्तन करते हुए तक भी देखते हैं। परन्तु, इसके साथ हमें यह भी पता चल जाता है कि उनके द्वारा प्रयुक्त वे नाम, किसी एक निर्गुण, निराकार तत्व की ओर भी इंगित करते हैं जो, घट-घट में व्यापक होने के साथ, परात्पर भी कहा जा सकता है तथा जिसका, किसी विशिष्ट मानव शरीर को धारण करके, संसार में लीला करने के लिए अवतीर्ण होते रहने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। अतएव, ये संत उसे, कभी-कभी केवल 'नाम' शब्द द्वारा भी अभिहित करते पाये जाते हैं तो कभी उसे 'ॐकार' का ही रूप दे डालते हैं इसी प्रकार संतो वाला 'राम' शब्द कभी रा वा रकार मात्र में

परिणत हो जाता है तो अन्यत्र यह केवल शब्द वा ध्वनि रह आया करता है। उसे उपलब्ध करके, उसके अन्तर्गत लय हो जाने के उद्देश्य से, उन्हें, अपने घट में 'अनहद' के रूप मे, सदा श्रवण करते रहने की प्रवृत्ति हो जाती है तथा इसके लिये उन्हें स्वभावत: योगसाधना-सबधी विभिन्न प्रक्रियाओं का भी वर्णन करना पड़ जाता है, विशेषकर इसी नाते, उन्हें पिण्डगत सारी रहस्यमयी रचना का भी उद्घाटन करना आवश्यक दीखने लगता है। फलत: इस प्रकार की स्थिति के आ जाने पर, इन संतों के लिए कहा जाना कि इनमें से बहुत से लोग संभवत: केवल अनहद नाद के श्रवण मात्र को ही सर्वाधिक महत्व प्रदान करते होंगे, कदाचित् अनुचित भी नहीं कहा जा सकता। परन्तु तथ्य यह समझ पड़ता है कि ये संत पहले भक्त हैं और तब कहीं इन्हें 'योगी' अथवा अन्य कुछ भी कहा जा सकता है। इसी कारण, हम, यहाँ पर भी, देखते हैं कि ये लोग बराबर 'प्रेम' अथवा 'भक्ति' की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट करते रहते हैं तथा कभी-कभी तो ये 'सुरति' के रूप में जीवात्मा को विरहिणी ठहराकर उसे, अपने प्रियतम 'शब्द' ब्रह्म के साथ मिलनार्थ अत्यन्त आतुर भी दर्शाते है। सत रामचरण, संत तुलसी साहब एवं संत शिवदयाल (राधास्वामी सत्संग) की रचनाओं के अन्तर्गत ऐसे अनेक स्थल मिल जा सकते हैं जिनके आधार पर इस प्रकार की धारणा का समर्थन किया जा सकता है।

इस प्रकार की प्रक्रियाओं के उदाहरण हमें, नाथयोगी-संप्रदाय के प्रमुख प्रवर्तक गुरु गोरखनाथ की उपलब्ध हिन्दी-रचनाओं के संग्रह-ग्रंथ 'गोरखबानी' के अंतर्गत, भी मिल सकते हैं। वहाँ पर संगृहीत प्रथम 'सबदी' के भी देखने से हमें पता चलता है कि, उनके अनुसार 'गगन सिषर' अर्थात् ब्रह्मरंध्र के भीतर से बोलने वाले अनुपम 'बालक' के ध्वन्यात्मक रूप का कोई 'नाँव' दे पाना हमारे लिए संभव नहीं।[७४] उसे हम किसी नाम द्वारा अभिहित नही कर सकते। वास्तव में वह कोई 'अनामी' है जिसे 'नाथ', 'निरंजन' जैसा कोई नाम देना भी उचित नहीं कहा जा सकता। इसके सिवाय वहाँ पर आगे नाम रूप मय 'सृष्टि के मूल में आकारतत्व का होना भी बतलाया गया है तथा उसे सर्वव्यापी ठहराया गया है। वही नादरूप में निरंतर वायुवत् ध्वनि किया करना है और वही 'सोहं हंसा' बनकर प्रत्येक शरीर में प्रवाहित भी होता है। अतएव, जिस 'अजपा जाप' को वहाँ पर विशेष महत्व प्रदान किया गया जान पड़ता है वह किसी विशिष्ट नाम के साथ संबद्ध न होकर वस्तुत. कोई आभ्यन्तरिक 'जपमाल' ही हो सकता है जो बराबर 'सो हं हंस:' के रूप में चला करता है।[७५] तदनुसार हमें ऐसा लगता है कि नाथ योगी संप्रदाय के अनुयायियों द्वारा अपनाये जाने वाली वैसी साधना का, नामस्मरण की अपेक्षा, कोई मंत्र-साधना ही कहा जाना अधिक समीचीन होगा। उसे, संत कबीरादि के द्वारा प्रचारित निर्गुण (गुणातीत) भक्ति वाली विशिष्ट साधना के क्षेत्र से कहीं बाहर ही उपयुक्त स्थान दिया जा सकता है।

संतों वाली उपलब्ध बानियों के भी अंतर्गत हमें इस प्रकार के स्थल प्रचुर मात्रा मे मिल जाते हैं जहाँ पर उन्होंने, 'ॐ' कार 'एवं रंकार' जैसे कतिपय रूपों में, अनाहत नाद की ओर संकेत किया है तथा उनमें से कुछ लोगों ने 'सोहं' एवं 'हंसा' की भी चर्चा एकाध स्थलो पर स्पष्ट रूप में कर दी है। परन्तु, महाँ तक हमें समझ पड़ता है, उन्होंने यहाँ पर

जितना यान उसकी प्रक्रिया विशेष मे अनवरत लीन बने रहने की ओर नही दिया है उतना प्रभू कवलाक्त अथवा प्रभू समरथसार कही जाने वाली जोति म मन को दृढ करके उसका साक्षात्कार करने पर बल दिया है। संत कबीर को इस बात म पूर्ण विश्वास जान पड़ता है कि, यदि इस प्रकार हमें 'रामनाम' में 'ल्यौ' लग जाय तो, जरा-मरण का भ्रम दूर हो जाय।[७६] 'सोहं-सोहं-सोहं हंसे' की चर्चा संत सुन्दर दास ने भी की है जहाँ उन्होंने 'गोरक्षउक्त' जैसा एक शीर्षक भी इसके ऊपर लगा दिया है।[७७] इसी प्रकार, अन्य कई सतो की भी पंक्तियों में पाये जाने वाले ऐसे उल्लेखों के विषय में, कहा जा सकता है कि या तो वहाँ पर केवल प्रासंगिक रूप में ही कह दिये गये होंगे अथवा उनके द्वारा अद्वैतभाव का समर्थन मात्र अभीष्ट रहा होगा।

जहाँ तक उपर्युक्त नाम-साधना के परिणाम अथवा, उसके फलस्वरूप उपलब्ध आध्यात्मिक स्थिति के विषय में, कहा जा सकता है, उसके ऊपर बहुत कुछ प्रकाश, सत कवियों द्वारा व्यक्त किये गये, विविध उद्‌गारों में ही पड़ जाता है। संत कबीर, सन्त गुरु नानक देव, सन्त दादू दयाल अथवा सन्त हरिरामदास रामदास आदि ने इसे बहुत स्पष्ट शब्दों में प्रकट किया है। संत मलूक दास ने भी इस सम्बन्ध में, कथन करते हुए, कहा है—

> **'सुमिरन ऐसा कीजिए, दूजा लखै न कोय।**
> **होठ न फरकत देखिये, प्रेम राखिये गोय॥४०॥**

तथा,
> **माला जपौं न कर जपौं, जिभ्या कहौं न राम।**
> **सुमिरन मेरा हरि करै, मैं पाया बिसराम॥४॥**[७८]

सन्तों वाली 'नाम-साधना के विषय में विचार करते समय, उसकी विशिष्टता की दृष्टि से, हमारा ध्यान एक अन्य बात की ओर भी जा सकता है। 'नाम' शब्द का अक्षरार्थ, जैसा कि विनोबा जी ने भी संकेत किया है, हमें अपनी नम्रता के भाव की आन्तरिक अनुभूति भी करा देता है। यह शब्द 'नाम्' धातु से बना है जिसके आधार पर ही 'नम्रता,' नमस्कार जैसे अन्य शब्द भी बने हैं जो चितशोधन-पूर्वक नम्र बन जाने की अपेक्षा करते हैं। उपनिषत्-साहित्य के अन्तर्गत एक स्थल पर कहा गया मिलता है कि 'उस परमात्मा की उपासना उसके 'नम्र' रूप में करनी चाहिए और जो ऐसा करता है वह सर्वथा निर्विकार हो जाता है क्योंकि उसके सामने सभी कामनाओं को झुकना पड़ता है। 'परमात्मा को नम्रता की मूर्ति बतलाने वाले एक ऐसे अन्य वाक्य को भी स्मरण कर लिया जा सकता है जिसमें कहा गया है कि 'नम्रता ही ऊँची है, मैं नम्रता की उपासना करता हूँ तथा नम्रता ने ही पृथ्वी एवं स्वर्ग को भी धारण किया है। 'जिससे स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ पर नम्रता स्वयं भगवान् का एक नाम तक भी ठहरायी जा सकती है।[७९] संत कवियों की रचनाओं में भी हमें कई ऐसी पंक्तियाँ मिल जाती है जहाँ पर उन्होंने अधिक से अधिक नम्र बने रहने का उपदेश दिया है। उनके द्वारा अपने 'अहं' अथवा 'हउमे' का त्याग करने 'आपा के मेटने' 'दैन्यभाव' के अपनाने आदि के ऊपर विशेष बल दिया जाना भी इसका द्योतक है। संत कबीर कहते है मै सतों का चेरा हू तथा दासों का परदास हूँ और मै ऐसा हो रहा हूँ जैसी पैरो के

तले की, घास हुआ करती हैं 'अथवा' तुम पाखंड एवं अभिमान का सर्वथा परित्याग करके 'बाट' का 'रोड़ा' बन जाओ, क्योंकि, ऐसी दशा में आने पर ही, भगवान् मिला करते हैं। 'इसके सिवाय कहीं-कहीं उनके द्वारा इस प्रकार का भी कथन किया गया मिलता है कि हरिजन को 'रोड़ा' न बन कर 'खेह' अथवा 'खेह' न बनकर 'पानी' अथवा 'पानी' भी न बनकर स्वयं 'हरि' के ही समान 'निर्मल' बन जाने के लिए यत्नशील होना चाहिए जो नामस्मरण से संभव होता है।[८०] इस प्रकार की अनेक उक्तियाँ संत नामदेव, नानक देव, दादू दयाल आदि की भी बानियों के अन्तर्गत पायी जाती हैं। नामसाधना का मूल उद्देश्य अभ्यास द्वारा साधक को निःस्व अर्थात् निर्विकार बना देने की प्रेरणा प्रदान करना ठहरता है जिसका लक्ष्य 'परमतत्त्व' का साक्षात्कार कर 'तद्वत्' होना है।

सन्दर्भ संकेत

(१) कबीर कहैं मैं कथि गया, कथि गया ब्रह्म महेस।
रामनाम ततसार हैं, सब काहू उपदेस ॥२॥

(२) तत तिलक तिहूँ लोक में, राम नाम निज सार।
जन कबीर मस्तक दिया, सोभा अधिक अपार ॥३॥

(३) भगति भजन हरिनाउं है, दूजा दुमक अपार।
मनसा वाचा क्रमना, कबीर सुमिरन सार ॥४॥—कं० ग्रं० 'सुमिरन कौ अंग'

(४) सांचे नाम की तिलु बड़िआई।
आखि सकै कीमति नहि पाई ॥—'नानक वाणी' रागु आसा सबद २

(५) अहिनिसि राम रहहु रंगि राते।
एहु जपु तपु संजमु सारा है ॥—वही सोलटे, १०।

(६) 'हरिनावै तुलिन पुजई जे लख कोटी करम कमाई।'
—वही सिरी रागु अष्टपदी १४

(७) संतनामदेव और हिन्दी-पद-साहित्य, पृ० १३० रागु आसा (३) (संपादक—डॉ० रामचन्द्र मिश्र, नागपुर) (८) वही—रागु गोंड, पद ४ (९) क० ग्रं० रागु भैरू, पद ९ (१०) वही, 'सुमिरन कौ अंग' सा० ७ (११) रैदासजी की बानी' (बे० प्रे०) शब्द ८६ (१२) 'जपुजी', पउड़ी १९ (१३) 'नानक-वाणी' रागु आसा, पउड़ी १, पृ० ३२४ (१४) वही, पउड़ी ४ (१५) 'श्री गुरु ग्रंथ साहिब' 'सुखमनी', महला ५, पृ० २९५ (१६) 'कबीर ग्रंथावली', पद २१८, पृ० १६२ (१७) वही, पद २२०, पृ० १६२-३। (१८) वही, पद १४२, पृ० १३४ (१९) वही, 'दुपदी रमैणी, पृ० २३४-५ (२०) वही, 'चौपदी रमैणी', पृ० २४३ (२१) वही, पद १८, पृ० ६४ (२२) 'दादूदयाल ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), सुमिरण कौ अंग' सा० १६, पृ० १७ (२३) श्री क्षितिमोहन सेन : 'दादू' (विश्वभारती कलिकाता पृ० ३१४-१ (२४ सुन्दर ग्रन्थावली

प्रकाश' की पंक्तियाँ (७४) 'गोरखबानी' सबदी १, (पृ० १) (७५) वही, पद १२, (पृ० ६८-६) (७६) कबीर ग्रंथावली, पद ३२८, पृ० १६६ (७७) सुन्दर ग्रन्थावली (भा० १) पृ० ३४७-८ (ज्ञानसमुद्र) । (७८) मलूकदास की बानी (बे० प्रे० इलाहाबाद) पृ० ३६

(७६) 'तत् नम इत्युपासीत, नम्यन्ते अस्मैं कामाः ।'

तथा 'नम इत्' उग्रं नम माविवासे नमो दाधार पृथिवी, उत द्याम'

रामनामः एक विवेचन (विनोबा, अखिलभारत, सर्व-सेवा-संग प्रकाशन, राजघाट, काशी, पृ० १०-२) (८०) क० ग्रं० (जीवन मृतक कौ अंग) सा० १३ तथा १४ पृ० ६५ तथा पादटिप्पणी की सा० १८-२१ । पृ० वही ।

मंझन का समय-निरूपण

श्री हरिप्रसाद नायक

विक्रम संवत् १९६९ के पूर्व का हिन्दी-संसार मंझन से सर्वथा अपरिचित था। हिन्दी के पुराने कवियों का कुछ इतिवृत्त-संग्रह पहले पहल विक्रम संवत् १८९६ में गार्सां द तासी ने अपने इस्त्वार द्ल 'लितरेत्यूर ऐंदूई ऐ ऐंदूस्तानी' नामक ग्रन्थ में किया, परन्तु इस ग्रन्थ मे कहीं भी मंझन का उल्लेख नहीं है। ठाकुर शिवसिंह सेंगर कृत 'शिवसिंह सरोज' का रचना-काल वि० संवत् १९४० है। इस विशालकाय ग्रन्थ में भी मंझन की चर्चा नहीं है। विक्रम सं० १९४६ में सर जार्ज ग्रियर्सन ने "दि माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर अफ हिन्दुस्तान" प्रकाशित किया, परन्तु उन दिनों तक भी मंझन का अनुसंधान नहीं हो पाया था। मंझन एवं उनकी 'मधुमालती' को प्रकाश में लाने का श्रेय सर्वप्रथम जगन्मोहन वर्मा को है, जिनके सहयोग से रायकृष्णदास जी को 'मधुमालती' की एक खण्डित एवं अपूर्ण प्रति काशी के गुदड़ी बाजार में मिली। वि० सं० १९६९ में कवि की इस कृति का विवरण प्रस्तुत किया गया। वर्मा जी ने 'चित्रावली' (सन् १९१२ ई० की भूमिका में इस 'मधुमालती' के विषय में लिखा है :

"मधुमालती की एक अपूर्ण प्रति मुझे इस वर्ष काशी के गुदड़ी बाजार में मिली। यह ग्रन्थ १७ पन्ने से १२३ पन्ने तक है। पुस्तक उर्दू लिपि (फारसी ?) में अत्यन्त शुद्ध और सुन्दर अक्षरों मे लिखी हुई है। भाषा मधुर है। पाँच-पाँच पंक्तियों के बाद एक दोहा है। आदि और अंत के पृष्ठ न होने से ग्रन्थकर्ता के ठीक नाम, सिवाय मंझन के जो उसका उपनाम है, और उसके निर्माण काल आदि का पता नहीं चलता। ग्रन्थ के आदि के ३९ पन्नों तक बाएँ पृष्ठ पर के किनारे पर दो-दो पंक्तियों में फारसी भाषा में कुछ याददाश्त लिखी है, जिनके अंत में ११ रबि उस्सानी सन् १०६६ हिजरी की मिती है। याददाश्त में उसी समय का वर्णन है। इससे अनुमान होता है कि यह प्रति उस समय संवत् १७.६ के पहले की लिखी हुई है।"[1]

'मिश्रबंधु-विनोद' की प्रकाशन तिथि वि० सं० १९६९ है, परन्तु संवत् के एक वर्ष पूर्व ही ग्रन्थ की पांडुलिपि तैयार हो गई थी। इसीलिए 'विनोद' में मंझन का परिचय नहीं दिया गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' अपने समय की युगान्तरकारी रचना है जिसका -काल १९८६ विक्रमी है इस ग्रन्थ में शुक्ल जी ने

मञ्झन का उल्लेख किया है, परन्तु कवि के जीवन संबंधी इतिवृत्त पर कुछ भी नहीं लिखा गया है। 'मधुमालती' की उपलब्ध एक खण्डित प्रति के आधार पर शुक्ल जी ने 'मधुमालती' की कथा का सारांश दिया है। शुक्ल जी ने मंझन के स्थितिकाल का उल्लेख तो नहीं किया है, परन्तु क्रमानुकूल जायसी के पूर्व मंझन का क्रम रखा है। मलिक मुहम्मद जायसी ने पदमावत मे कई प्रेम-गाथाओं का उल्लेख किया है :

> अब जउँ सूर गगन चढ़ि आवइ। राहु होइ तउ ससि कहँ पावइ ॥
> बहुतइँ अइस जीउ पर खेला। तूँ जोगी कहि माँह अकेला ॥
> बिकरम धँसा पेम कइ बारा। चंपावति कहँ गएउ पतारा ॥
> सुदैइ बच्छ मगधावति लागी। कँकन पूरि होइगा बइरागी ॥
> राज कुअँर कंचन-पुर गएउ। मिरगावति कहँ जोगी भएउ ॥
> साध कुअँर गँधावति जोगू। मधुमालती कहँ कीन्ह बिओगू ॥
> पेमावति कहँ सर सुर साधा। उखा लागि अनिरुध बर बाँधा ॥

—छन्द संख्या २३८ (सुधाकर चन्द्रिका)

इस छन्द में 'मधुमालति' का परिचय आया है, इसी आधार पर 'मधुमालती' के रचना-काल पर (अनुमानिक) विचार करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है :

"इसकी रचना विक्रम संवत् १४६४ और १४०५ (पदमावत का रचनाकाल) के बीच मे और बहुत संभव है कि मृगावती के कुछ पीछे हुई। × × × × जिस क्रम से ये नाम आए है (उपरोक्त छंद मे) वह यदि रचनाकाल के क्रम के अनुसार माना जाय तो मधुमालती का रचना कुतबन की मृगावती के पीछे की ठहरती है।"[२]

शुक्ल जी के इस मत की एक प्रकार से पुष्टि करते हुए बाबू श्यामसुन्दर दास ने 'मधुमालती' का रचनाकाल सं० १५७४-८४ के लगभग माना है। इस ग्रन्थ के रचनाकाल का ठीक पता नहीं लगने पर भी जायसीकृत पदमावत में मधुमालती की प्रेम-गाथा के उल्लेख से बाबू साहब ने लिखा है :

"यह (मधुमालती) पद्मावत के पूर्व लिखी ही नहीं जा चुकी थी, वरन् भली भाँति प्रसिद्ध भी हो चुकी थी और पद्मावत की रचना सं० १४६७ में हुई अतः उसके कुछ वर्ष पूर्व ही इसका रचा जाना निश्चित है। जायसी ने जिस क्रम से इसका उल्लेख किया है उससे मधु-मालती का मृगावती के पीछे लिखा जाना विदित होता है। इस प्रकार हमारे विचार से मधुमालती की रचना सं० १५७५-८५ के लगभग हुई।"[३]

जगन्मोहन वर्मा ने 'मधुमालती' की जिस उपलब्ध खण्डित प्रति की चर्चा ऊपर की है, उस प्रति के प्रारम्भ के कुछ पृष्ठ नहीं हैं। काल संबंधी वाले पृष्ठों के अभाव में 'मधुमालती' की निर्माण-तिथि की जानकारी उपलब्ध नहीं हो सकी। इसी खण्डित एवं अपूर्ण प्रति के आधार पर जगन्मोहन वर्मा एवं उनके आत्मज सत्यजीवन वर्मा दोनों ने ही यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि कवि मंझन कृत 'मधुमालती' की रचना जायसीकृत 'पदमावत' के पूर्व हुई इस प्रकार मञ्झन के जायसी के पूर्ववर्ती कवि होने की चर्चा बहुत दिनों तक होती रही।

१

कवि मझन का जीवनवृत्त तमावृत्त है मझन का उल्लेख तत्कालीन किसी भी लेखक ने नहीं किया है। परवर्ती कवियो की कृतियों में भी मझन की चर्चा नहीं है मधुमालती ग्रन्थ का हवाला उसमान कृत 'चित्रावली' तथा बनारसीदास जैन कृत 'अर्द्धकथा' में है परन्तु इन उल्लेखों से कवि का जीवनचरित आलोकित नहीं होता।

अन्त: साक्ष्य में हमारे पास मंझन की एकमात्र कृति 'मधुमालती' की ही आधारोपलब्धि है। इस ग्रन्थ से कवि के स्थितिकाल पर झिलमिल प्रकाश पड़ता है। 'मधुमालती' में शाहेवक्त सलीमशाह सूर की प्रशंसा है :

"साहि सलेम जगत भा भारी। जेईं भूँजी बर मेदिनि सारी।"

—छंद संख्या १० (सं० माता प्र० गुप्त)

सलीमशाह सूर के विषय में अत्युक्तिपूर्ण विवरण दिया गया है। डॉ० माता प्रसाद गुप्त ने ठीक ही लिखा है कि, "इस प्रकार बढ़ा-चढ़ा कर शाह-ए-वक्त की प्रशंसा करना उस युग में, ऐसा ज्ञात होता है, एक प्रकार की काव्य-रूढ़ि-सी हो गई थी। उसमें तथ्यात्मकता का लेश मात्र ही रहा करता था।"[४] शाहेवक्त का उल्लेख करना फारसी नियम के अनुकूल है। फारसी नियमानुसार ग्रन्थ बनाने में खुदारसुल और खलीफाओं की स्तुति करके शाहेवक्त की भी प्रशंसा करना आवश्यक है। मौलाना दाउदकृत 'चंदायन', जायसीकृत 'पदमावत' और उसमान कृत 'चित्रावली' में इस नियम का पालन किया गया है। 'मधुमालती' की रचना-विधि इसी नियम के अनुकूल है। इस ग्रन्थ की रचना के समय शाहेवक्त सलीमशाह सूर था। इसलिए कृतिकार मंझन ने सलीमशाह सूर की प्रशंसा 'मधुमालती' में की है। यह निश्चित है कि बादशाह सलीमशाह सूर कवि मंझन के समकालीन था।

शेरशाह की मृत्यु सन् १५४५ ई० को २२ मई (१२वीं रबी-उल-अव्वल, सन् ९५२ हि०) तदनुसार वि० सं० १६०२ को हुई। उसकी मृत्यु के तीन दिन बाद उसका छोटा पुत्र जलाल खां ('मखजन-ए-अफगानी' के अनुसार इसका वास्तविक नाम अब्दुल जलील था) २५ मई, सन् १५४५ ई० को कालिंजर दुर्ग के समीप सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने 'इसलाम साह' (ईसलाम साहि) की उपाधि धारण कर ली और राजमुद्रा पर निम्नलिखित पंक्ति खुदवाई, जिसका हिन्दी अनुवाद डॉ० मथुरालाल शर्मा के शब्दों में इस प्रकार है—"सर्वशक्तिमान् ईश्वर के अनुग्रह से संसार में सुख व्याप्त हो गया क्योंकि शेरशाह सूर का पुत्र इस्लाम शाह सुल्तान बन गया है।"[५] 'इसलाम साह' 'सलीम साह' के नाम से भी प्रसिद्ध है। अबुल फजल और अधिकांश तिमूरी लेखक इसको 'सलीम साह' या 'सलीम खाँ' कहते हैं। इसका देहली वाला किला सलीमगढ़ कहलाता है और उसके सिक्कों पर 'ईसलाम साहि' 'इसलाम साहि' अथवा 'इसलाम साह' लिखा हुआ है। एडवर्ड थामस ने लिखा है :

"The public buildings, for which Islam Shae's reign is remarkable, are the Fort of Selim Gurh."[६]

स्वर विपर्यय के नियमानुकूल 'इसलाम' का 'सलीम' हो जाना स्वाभाविक है और उच्चारण सुविधा (मुखसौख्य) के कारण 'इसलाम साह' जनसाधारण में 'सलीम साह' हो गया इसलिए इतिहास में इसलाम साह सलीम साह के नाम से भी ख्यात है महम्मद कासिम हिन्दू शाह फरिश्ता ने भी लिखा है

"Julal Khan, through the influence of Easa Khan and his party ascended the throne, in the fortress of Kalunjur, on the 25th of Rubbee-oo' Awul, in the year 952, taking the title of Islam Shah, which by false pronunciation is called Sulim Shah, by which name he is more generally known."७

'सलीम साह' ने बहुत ही अल्प काल तक शासन किया। शासन के नौवें वर्ष सन् ९६० हि० (३० अक्टूबर सन् १५५३ ई० : वि० सं० १६११) को उसका देहान्त हो गया 'सलीम साह' के शासन-काल (वि० सं० १६०२-१६११) में 'मधुमालती' की रचना हुई, यह निश्चित है।

'मधुमालती' में मंझन ने लिखा है—

"सन नौ सै बावन जब भए। सती पुरुख कलि परिहरि गए :
तब हम जिय उपजी अभिलाखा। कथा एक बांधउं रस भाखा।"

— छन्द संख्या ३९ (सं० माताप्रसाद गुप्त)

सन् ९५२ हि० के उल्लेख से अधिकांश विद्वानों के 'मधुमालती' का रचनाकाल स० १६०२ विक्रमी माना है। हमने भी अपने "जायसी का स्थितिकाल"८ शीर्षक लेख में इस ग्रन्थ का रचनाकाल सन् ९५२ हिजरी ही माना था। परन्तु उपर्युक्त छन्द से इसकी पुष्टि नहीं होती है कि 'मधुमालती' की रचना हिजरी सन् ९५२ में हुई थी। ग्रन्थ की निश्चित निर्माण-तिथि के विषय में कवि मंझन प्रायः मौन हैं।

मंझन के गुरु शेख मुहम्मद गौस लगभग १२ वर्षों तक धुंधदरी नाम के ऐसे स्थान पर छिपे थे, जहां सूर्य और चन्द्रमा भी नहीं दिखाई पड़ते थे। बदायूनी के अनुसार यह दुर्गम स्थान चुनार की पहाड़ियों पर ही स्थित था। शेरशाह के निधन के पश्चात् गौसमुहम्मद ने अज्ञातवास का परित्याग किया। शेरशाह का कोप-भाजन बनने के कारण संभवतः यह अज्ञातवास उन्हें करना पड़ा था, इसीलिए सलीमशाह सूर द्वारा निर्मित 'चित्रशाला' (जिसका उल्लेख अगले पृष्ठों में किया गया है।) में मुहम्मद गौस के चित्र को स्थान नहीं दिया गया। जो कुछ भी हो, मुहम्मद गौस अपने समय के बहुत ही प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति थे। अज्ञातवास परित्याग करने वाली घटना का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसी घटना की ओर कवि का भी संकेत है कि सन् ९५२ हि० के गुजरने पर 'सती पुरुख' ने अज्ञातवास का त्याग किया। यह काल संबंधी छन्द ग्रन्थ रचना के हेतु नहीं लिखा गया है। गौसमुहम्मद के अज्ञातवास-त्याग से इस छन्द का संबंध है। अगर कवि का संकेत कथा प्रारम्भ से रहता तो कवि बीच में 'सती पुरुख कलि परिहरि गए' का उल्लेख नहीं करता। कवि स्पष्ट रूप से कथा प्रारम्भ की चर्चा करता जिस प्रकार अन्य कवियों ने किया है। जायसी ने 'पदमावत' में ग्रन्थ के प्रणयन काल का उल्लेख निश्चित रूप ने किया है (सन् से सैतालिस अहै। कथा आरम्भ वैन कवि कहै॥ छन्द संख्या २४)। जायसी के समान कवि मंझन ने 'कथा अरम्भ' नहीं की है। सन् ९५२ हि० के व्यतीत होने पर गौस मुहम्मद कन्दराओं से बाहर आए। कवि ने कुछ वर्षों तक उनका दर्शन लाभ किया। उसके बाद कवि के 'जिय' में अभिलाखा उपजी कि एक कथा रसभाषा म बांधउं' उस पर भी उन दिनों एक

कथा की कवि ने कल्पना ही की कोई क्रियात्मक रूप उस कथा को नहीं दिया गया था उस कल्पित कथा का अवतरण मधुमालती के रूप में कुछ समय के बाद ही संभावित है इसलिए 'मधुमालती' का प्रणयन काल वि० स० १६०२ के बाद ही निश्चित होता है।

'मधुमालती' से इतना प्रामाणिक है कि मंझन के गुरु एक मात्र शेख मुहम्मद गौस ही थे। जिस श्रद्धा-भक्ति से कवि ने अपने गुरु की सिद्धियों की प्रशंसा विस्तारपूर्वक की है, उससे यह निर्णीत होता है कि अज्ञात वास-त्याग के बाद ही गौसमुहम्मद ने कवि मंझन को अपना मुरीद बनाया। लगभग हि० सन् ६४० में गौसमुहम्मद ने अज्ञातवास लिया। 'मधुमालती' की रचना के आधार पर सन् ६४० हि० के पूर्व कवि गौसमुहम्मद के शिष्य हुए हों यह संभव प्रतीत नहीं होता। मंझन ने मुहम्मद गौस को 'सेख बड़े' भी कहा है ("सेख बड़े जग विधि पियारा। ग्यान गरुअ औ रूप अपारा।"—छन्द संख्या १४)। गौसमुहम्मद से ही मलिक मुहम्मद जायसी की मित्रता रही हो तो आश्चर्य नहीं। जायसी का जन्म वि० संवत् १५२६ में हुआ [८] और यही जन्म संवत् शेख मुहम्मद गौस का भी है। मालूम पड़ता है इन्हीं शेख मुहम्मद गौस के लिए जायसी ने 'पदमावत' में 'सेख बड़े' का प्रयोग किया है।

"सेख बड़े बड़ सिद्ध बखाने। कइ अबेस सिद्धन्ह बड़ माने।"

(डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा संपादित जायसी ग्रंथावली—छंद संख्या २२)

डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने गौसमुहम्मद सम्बन्धी छन्दों के अर्थ में अतीतकालीन क्रिया का प्रयोग किया है, जिससे यह भ्रम होता है कि शेख मुहम्मद गौस 'मधुमालती'-रचना के समय दिवंगत हो चुके थे। गौस के जीवन काल में ही 'मधुमालती' की रचना हुई। कवि मझन ने लिखा है :

"जस पारस के परसत भीत हेम होइ जाइ।
तिमि मैं सेख मुहम्मद देखे बिनु साहस सिधि पाइ।"

— छंद संख्या १६ का छत्ता (डॉ० गुप्त)

(शेख मुहम्मद गौस को देखकर ही कवि ने अनायास ही सिद्धि प्राप्त कर ली है।)

छन्द संख्या २१ में कवि मंझन ने शेख मुहम्मद गौस के विषय में लिखा है :—

"बारह बरिख तहाँ गै दुरे। जहां सूर ससि दिस्टि न परे।
बिकट बिखम औ भयावन ठाऊँ। कलिजुग धुंध दरी ओहि नाऊँ।
चहुँ दिसि परबत बिखम अगंमा। तहाँ न केहूँ मानुस गंमा।
तहाँ जाइ के जपेउ बिधाता। कै अहार बन जामुनि पाता।
मन मत्तंग मारि बस किया। ग्यान महारस अंब्रित पिया।
साहस उदित अपान साधि कै लीन्हि सिद्धि अवराधि।
बारह बरिख रहे बन परबत लाए जो ब्रह्म समाधि॥"

अकबरी दरबार के सुप्रसिद्ध इतिहासकार बदायूनी (शेख अब्दुल कादिर बदायूनी-इमाम-अकबर-शाह) ने अपने इतिहास ग्रन्थ "मुनतखब-उत-तवारीख" में उपरोक्त घटना का उल्लेख किया है कि शेख मुहम्मद गौस ने चुनार की पहाड़ियों के अंचल में १२ वर्षों

तक घोर तपस्या की। वे गुफाओं में निवास करते थे और वृक्षों के पत्तों के भोजन करते थे। लो (W. H. LOWE) के शब्दों में बदायूनी के कथन इस प्रकार हैं :

"And in the jungle at the foot of the Chunar hill I came to the dwelling and abode of Shaikh Muhammad Ghous, one of the great Shaikhs of India, and a man of prayer, One of his followers met me, and showed me a cave where the Shaikh had lived for twelve years as a hermit, subsisting on the leaves, and fruit of the desert trees."[१०]

बदायूनी का जन्म वि० सं० १५९७ में हुआ। वि० सं० १६३१ से अकबरी-दरबार मे उसका प्रवेश हुआ। वि० सं० १६५३ में ५७ वर्ष की अवस्था में उसका देहान्त हो गया। मृत्यु के कुछ ही महीने पूर्व बदायूनी ने अपने इतिहास-ग्रन्थ (मुनतखब-उत-तवारीख) का समाप्त किया। इस ग्रन्थ के रचनाकाल के समय बदायूनी ने शेखमुहम्मद गौस को आगरे मे दूर से देखा था। लो के शब्दों में बदायूनी का उल्लेख—

"While the compiler of the Muntakhab was at Agra occupied in acquiring the usual branches of knowledge, the Shaikh came in the dress of Faqir, with great display and unutterable dignity and his fame filled the universe."[११]

बदायूनी के अनुसार मुहम्मद गौस की अवस्था उन दिनों ८० वर्ष की थी। लो के शब्दों में बदायूनी का कथन इस प्रकार है—

"Although he (Ghous) was 80 years of age a wonderful freshness and remarkable fine colour, were observable in his comylexion."[१२]

सन् ९७० हि० (वि० सं० १६१९) में ९० वर्ष की अवस्था पार करके शेख मुहम्मद गौस का निधन आगरे में हो गया।

ऊपर हमने लिखा है कि मुहम्मद गौस के जीवनकाल में 'मधुमालती' की रचना हुई। गौस के देहावसान संवत् १६१९ वि० के पूर्व ही 'मधुमालती' की रचना हुई, इसमे कोई सन्देह नही।

सलीमशाह सूर के वर्णन में कवि मंझन ने एक स्थान पर काबुल का उल्लेख किया है :

"गरुआ तप गरुआ अवतारा। काबिल हिंद भएउ एक बारा।"

—छन्द संख्या ११ (डॉ० गुप्त)

(उसके गुरु-तप और गुरु-अवतार से काबुल तथा हिंद का द्वार एक हो गया।)

एलफिन्स्टन ने 'दि हिस्ट्री अफ इण्डिया' में लिखा है :

"On one occasion, (Selim) was informed that King Humayun, who had recovered Cabul, had actually crossed the Indus to attack him. Selim happened to be indisposed at the time, and was sitting under the appicat of leeches · and was encamped six miles from Delhi before evening. If alarm had any share in this display of energy t was ill-founded, Humanyun

had only crossed for local purposes, and almost immediately retired to Cabul."[१३]

यह घटना सं० १६०५ और १६०७ विक्रमी के बीच की है। इसी घटना की ओर कवि का संकेत उपरोक्त छन्द में है। इसलिए 'मधुमालती' की रचना का प्रारम्भ वि० सं०१६०७ के बाद ही सम्भव है। यह तो निश्चित है कि सलीम शाह सूर के शासन-काल में ही कवि ने ग्रन्थ का श्रीगणेश किया। समीप की मृत्यु (वि० सं० १६११ के पूर्व ही ग्रन्थ प्रणयन का प्रारम्भ हुआ इसमें कोई सन्देह नहीं।

'मधुमासती' में कवि मंझन ने अपना नाम 'मंझन' पाँच स्थानों पर लिखा है। 'मधुमालती' के रचयिता का नाम 'मंझन' था, यह प्रामाणिक है, परन्तु 'मंझन' कवि का उपनाम मालूम पड़ता है। कवि का पूरा नाम क्या था, इस विषय में विद्वानों में एक मत नहीं है। 'मधुमालती' की उपलब्ध प्रतियों की पुष्पिकाओ में 'सेष मंझन' (भारत कला भवन की प्रति), 'मलिक मंझन' (रामपुर लाइब्रेरी की प्रति) तथा 'गुफतार मियाँ मंझन' (एकडला की प्रति) इन तीन प्रकार के नामों का उल्लेख है। इन पुष्पिकाओं के आधार पर इतना तो निश्चितपूर्वक कहा जा सकता है कि कवि का जो कुछ भी नाम रहा हो, 'मंझन' के नाम से उन दिनों ये सुविख्यात थे। इसके अलावे कवि ने भी अपनी रचना में (जहाँ भी नाम का उल्लेख आया है) 'मंझन' नाम ही दिया है। पंडित रामखेलावन पांडेय के मत के अनुसार 'मंझन का वास्तविक नाम शेख मंगन था।'[१४] डाक्टर इस्तियाक हुसैन कुरेशी ने अपने ग्रन्थ 'दि एड्मिन्ट्रेशन आफ दि सुल्तानेह् आफ देलही' की पृष्ठ संख्या १७४ में लिखा है

"Islam Shah Sur provided pavilions near his own residence which were beautifully furnished; in that the dilettanti of the age like Mir Sayyid, Manghu Shah Mohammad, Hayati, Saifi and Surdas who recited poetry or debated literacy and philosophical questions (Afsanah-i-Shahan)."[१५]

मंधु (मंगु) शाहमुहम्मद संभवत: मंझन के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। मालूम पड़ता है कि 'मधुमालती' की रचना के पूर्व कवि का नाम 'मंझन' के नाम से सुविख्यात नहीं था; मगु अथवा मंघु शाह के नाम से ही प्रसिद्ध था। सलीम शाह सूर ने अपने जीवन काल मे जिस चित्रशाला की स्थापना की थी उसमें किसी मंघु (मंगु) शाह मुहम्मद का भी एक चित्र था, इस चित्रशाला का निर्माण सन् ९५७ हि० के बाद ही हुआ, क्योंकि सलीम के शासन काल का प्रारंभिक पाच वर्ष अशान्ति का काल था। उन दिनों राज्य में वातावरण भयकर रूप से व्याप्त था, जिनको दमन करने में ही सलीम व्यस्त था। चित्रशाला के निर्माण के समय 'मधुमालती' की रचना कवि ने नही की थी। इसलिए मंघु (मंगु) शाह मुहम्मद के नाम से उनके चित्र को चित्रशाला में स्थापित किया गया। 'मधुमालती' कवि की प्रौढ़ रचना है— इसलिए इसे कवि की प्रथम कृति नहीं मानी जा सकती है। इस ग्रन्थ-रचना से पूर्व भी मझन ने कुछ रचनायें अवश्य ही की होगी और उन दिनों मझन के नाम से कवि की ख्याति नही थी। मंझन का ही पूरा नाम मधु (मंगु) शाह मुहम्मद रहा हो तो, असम्भव नही। चित्रशाला निर्माण क बाद ही मधुमालती का प्रणयन हुआ ऊपर लिखा गया है कि

चित्रशाला का निर्माण सन् ९५७ हिजरी तद्नुसार वि० सम्वत् १६०७ के बाद हुआ। वि० सं० १६०८ के पूर्व का 'मधुमालती'—कार मंझन के नाम से प्रसिद्ध नहीं था। इसलिए 'मधुमालती' का प्रणयन-प्रारम्भ सं० १६०८ वि० के बाद ही सम्भव हुआ।

सलीमशाह के शासनकाल में संगीत को भी प्रश्रय मिला। सलीमशाह संगीत प्रेमी था—संगीत से उसे दिलचस्पी थी। ('असलमशाह' के नाम से उसकी कुछ हिन्दी रचनाएँ भी मिलती हैं।) ब्लाचमैन ने लिखा है :

"Islam Shah also was a ptron of music. His two great singers were Ram Das and Mahapater. Both entered subsequently Akbar's service."[१६]

जिस चित्रशाला का ऊपर उल्लेल किया गया है, उसमें किसी सूरदास का भी एक चित्र था यह सूरदास संगीतज्ञ था और संभवतः बाबा रामदास का आत्मज था। बाबा रामदास का सम्बन्ध पहले शलीमशाह सूर के दरबार से था—पीछे अकबर की सेवा मे नियुक्त हुआ। बदायूनी ने लिखा है जो लो के शब्दों में इस प्रकार है : -

"Ram Das of Lakhnou, who was one of the musicians of Aslim Shah, and one that in music and song you might term a second Mivan Tan Sin."[१७]

'आइने अकबरी' में अकबरी दरबार के संगीतज्ञों में बाबा रामदास का दूसरा स्थान मियाँ अबुल फजल अल्लामी ने इसे ग्वालियर निवासी लिखा है, जब कि बदायूनी के लिखे अनुसार वह लखनऊ वासी था। बाबा रामदास ग्वालियर सगीत विद्यापीठ से सम्बन्वित था, इसीलिए अबुल फजल ने भ्रमसे इसे ग्वालियर का वासी लिखा है। दर असल रामदास लखनऊ का ही रहने वाला था, ग्वालियर का नही। उन दिनों संगीत के लिए ग्वालियर का नाम प्रसिद्ध था। ग्वालियर संगीत का केन्द्रस्थल था। ध्रुपद गायकी का प्रचार अकबरी दरबार में प्रधानतः था। जितने भी कलावंत (संगीत) अकबरी दरबार से सम्बन्धित थे, प्रायः सभी का संपर्क ग्वालियर मे था। इन्हीं गायकों में बाबा रामदास के पुत्र सूरदास का भी उल्लेख है जिनका स्थान दरबारी संगीतज्ञों में क्रमानुसार १९ वां (आइने अकबरी में) है। सलीम शाह सूर के चित्रशाला मे जिस सूरदास का चित्र है, वह निश्चित रूप से बाबा रामदास का ही पुत्र था। सलीम शाह की मृत्यु के बाद सूरदास अकबर का दरबारी संगीतज्ञ हो गया। चित्रशाला निर्माण के पूर्व ही बाबा रामदास सलीम शाह के दरबार से पृथक हो गया था, नही तो चित्रशाला में उसके चित्र को भी स्थान मिलता। इसलिए वि० सं० १६०८ के पूर्व ही बाबा रामदास का प्रवेश अकबरी दरबार में हुआ।

स्वामी हरिदास ध्रुपदशैली के आचार्य थे। कवि मंझन के गुरु शेख मुहम्मद गौस स्वामीजी के प्रशंसकों में से थे। श्री बब्बन जी के मतानुसार मुहम्मद गौस ने ही तानसेन को स्वामी जी के पास संगीत की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा था—

"Tansen joined the ashram of Swami Haridas for higher studies in music in 1544 A. D. He was sent by Mohammad Ghaus, a sufu Muslim Fakir (Swami Amardasji before he embraced Islam) who was a great of S Haridas.[१८]

इतिहास से पता चलता है कि अकबर के समय तक ध्रुपद गायकी का प्रचार प्रचुर मात्रा में हो गया था। 'आइने अकबरी' में दरबारी कलावंतों की सारणी में जितने भी संगीतज्ञों का उल्लेख हुआ है, उनके नाम के पीछे प्राय: 'ग्वालियर' शब्द लिखा गया है। उत्तरी भारतीय संगीत के लिए सम्भवत: 'ग्वालियर-संगीत' का प्रयोग जनसाधारण में प्रचलित था। मालूम पड़ता है 'ग्वालियर' शब्द उत्तरी भारतीय संगीत का पर्याय अकबर के समय में बन गया था। ग्वालियर से सम्बन्धित जितने भी संगीतज्ञ थे, सभी को 'ध्रुपद' के प्रति विशेष अनुराग था। अकबरी दरबार में ध्रुपद शैली के गायकी का महत्त्वपूर्ण स्थान था। सलीम शाह सूर भी संगीत प्रेमी था, इसीलिए ग्वालियर को उसने अपना स्थायी निवास स्थान बना लिया था। श्री प्रभुदयाल जी मीतल के मतानुसार "सलीम अपनी राजधानी आगरा से बदलकर ग्वालियर ले गया था।" कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया में भी लिया गया है :—

Gwalier, his (Islam Shah) favourite place of residence."[१९]

इससे इतना निश्चित है कि सलीमशाह सूर ने उपरोक्त चित्रशाला का निर्माण ग्वालियर में ही किया था। सलीमशाह सूर के शासन-काल के उत्तरार्ध में ही चित्रशाला निर्मित हुआ था, इसमें कोई सन्देह नहीं।

ऊपर लिखा जा चुका है कि सलीमशाह सूर के शासन-काल में 'मधुमालती' का रचना-प्रारम्भ हुआ। ग्रन्थ का समाप्ति काल सलीमशाह के निधन के पश्चात् आता है। मझन का स्थायी निवास-स्थान ग्वालियर ही था और अपने गुरु शेख मुहम्मद गौस के आदेशानुसार कवि ने 'मधुमालती' कथा का प्रारम्भ किया। 'मधुमालती' प्रणयन के समय गौस मुहम्मद का भी स्थायी निवास ग्वालियर में ही था। छन्द संख्या १६ ("तिमि मैं सेख मुहम्मद देखे बिनु साहस सिधि पाइ॥") से भी इसकी पुष्टि होती है। यह सर्व विदित है कि उन दिनों ग्वालियर ध्रुपद गायकी का प्रचार केन्द्र था। तत्कालीन प्रचलित संगीत की स्पष्ट छाप 'मधुमालती' के निम्न छन्द में द्रष्टव्य है :—

"सभ घर नगर बधावा औ सभ खोरि अनंद।
सुरस कंठ सभ गावहिं, धुरवा धुरपद छंद॥"

छन्द संख्या ५२ (सं० माताप्रसाद गुप्त)

'धुरवा' ध्रुव अथवा ध्रुवा का विकृत रूप है। 'अमरकोश' में ध्रुव, और 'ध्रुवा' दोनो शब्द है। 'धुरवा' का अर्थ मेघ भी होता है—धुरपद (ध्रुपद) के साथ इसका मेल बैठता है परन्तु 'सुरस कंठ' के साथ नहीं। कवि ने इस अर्थ में 'धुरवा' का प्रयोग नहीं किया है। बरवे छन्द का एक नाम 'ध्रुव' भी है, परन्तु इस छन्द से धुरवा' का कोई प्रयोजन नहीं है। 'धुरपद' के साथ 'धुरवा' शब्द आया है, इसीलिए संगीत से ही कवि का अभिप्राय है।

'धुरपद' ध्रुपद का अर्द्धतत्सम रूप है। ध्रुपद संगीत की एक विशिष्ट पद्धति है। इसे भ्रमवश कुछ लोग राग समझते हैं और कुछ लोग ताल: परन्तु ध्रुपद न किसी राग का नाम है और न किसी ताल का ध्रुपद प्राय तीन प्रकार का होता है १

वन्दनात्मक अथवा आशीर्वादात्मक, (२) वर्णनात्मक और (३) लक्षणात्मक। वन्दनात्मक अथवा आशीर्वादात्मक ध्रुपद में या तो किसी देवता की स्तुति की जाती है या किसी को आशीर्वाद दिया जाता है। उपरोक्त छन्द (संख्या ५२) में 'वधावा' शब्द आया है और इससे 'शुभकामना-भाव' की अभिव्यक्ति होती है, इसलिए यहाँ आशीर्वादात्मक ध्रुपद (धुरपद) की ओर कवि मंझन का संकेत निहित है।

सलीमशाह सूर के शासन के उत्तर-काल में 'मधुमालती' का श्री गणेश कवि ने कर दिया था, यह निश्चित है। हमने ऊपर लिखा है कि ग्रन्थ का प्रारम्भ वि० स० १६०८ और १६११ के मध्य किसी समय कर दिया गया था। 'चित्रशाला' निर्माण के बाद ही 'मधुमालती' की शुरुआत कवि मंझन ने की, यह प्रामाणिक है। ग्रन्थ का प्रारभ सलीम शाह सूर के निधन के एकाध वर्ष पूर्व हो गया था। विक्रम सं० १६०६ में कवि ने 'मधुमालती' का प्रारम्भ अवश्य कर दिया था, इसमें सन्देह नहीं है।

हमने कवि मंझन का स्थायी निवास स्थान ग्वालियर को ही माना है। संभवतः कवि का जन्मस्थान भी ग्वालियर ही था। पं० हरिहर निवास द्विवेदी के विचार से हम सहमत हैं। जिन लोगों ने 'चुनारगढ़' को कवि मंझन का जन्मस्थान अथवा निवासस्थान माना है, उनलोगों ने 'चर्नाढ़ी' को चुनारगढ़ का प्रारम्भिक रूप माना है। कवि का अभिप्राय चुनारगढ़ से नहीं है। कवि तो स्पष्ट लिखता है—

> **"गढ़ अनूप बसि नगरि चर्नाढ़ी। कलिजुग महं लंका सों गाढ़ी।**
> **पुरुब दिसा जरगी फिरि आई। उतर पछिम गंग गढ़ खाई।"**
>
> —छन्द संख्या ३४ (सं० माताप्रसाद गुप्त)

उपरोक्त छन्द में 'चर्नाढ़ी नगरी' की चर्चा कवि करता है, चर्नाढ़ी-गढ़ की नहीं। किसी 'अनूपगढ़' में 'चर्नाढ़ी' नामक नगर है। इस छन्द की दूसरी पंक्ति में जरगी' शब्द आया है। डा० शिवगोपाल मिश्र ने अपने संपादित ग्रन्थ (मधुमालती) में 'जरगो' लिखा है और इस शब्द के प्रयोग से मिश्रजी ने चर्नाढ़ी को चुनारगढ़ से संबंधित माना है :—

"इस गढ़ (चुनारगढ़) के उत्तर-पश्चिम गंगा नदी बहती है और पूर्व में जरगो या जरगी नदी है। मधुमालती में यह जरगो नदी 'जगरो' के रूप में प्राप्य है— इसी कारण चुनारगढ़ की स्थिति में पहले कुछ सन्देह भी व्यक्त किया गया था। किन्तु अब यह निश्चित है कि 'गढ़ के बखान' के अन्तर्गत ३३ वीं तथा ३४ वीं अर्द्धालियां मंझन के निवास-स्थान 'चुनारगढ़' से सम्बन्धित है।

'चर्नाढ़ी' के चुनारगढ़ की व्युत्पत्ति सहज संभाव्य है। फारसी ग्रंथों में 'चनादह' रूप प्रयुक्त मिलता है। (हुमायूँनामा, आइने अकबरी तथा अकबरनामा आदि में) सम्भवत तुक मिलाने के उद्देश्य से मंझन ने 'चनडि' को 'चर्नाढ़ी' कर दिया हो।"[२०]

यह निश्चित पूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि कवि ने 'जरगी' अथवा 'जरगो' शब्द का ही उल्लेख किया हो। प० परशुराम चतुर्वेदी ने अपने ग्रन्थ सूफी काव्य संग्रह

में कवि के निवास-स्थान के प्रमाण में जिन दो पंक्तियों का उल्लेख किया है, उसमें जरगी अथवा 'जरगो' शब्द नहीं आया है (डा० गुप्त तथा डा० मिश्र के संस्करणों से सर्वथा भिन्न है)। चतुर्वेदी जी ने लिखा है:

"गढ़ अनूप बस नगर ढ़ी, कलजुग महं लंका सो गाढ़ी।
पुरब दिशा जाकी गहराई, उत्तर पश्चिम लंका गढ़ खाई।"

"पहली पंक्ति की लंका रावणी लंका है परन्तु दूसरी पंक्ति का लंका-शब्द ऊँचे टीले के लिए प्रयुक्त हुआ।"[२१] रायबहादुर श्री हरीलाल बी० ए० ने भी "अवधी हिन्दी प्रांत में राम-रावण-युद्ध" शीर्षक लेख में लिखा है कि, "ऊँचे टीलों को लंका ही कहते है।"[२२] इसलिए उपरोक्त पंक्तियों में 'लंका' में पुनरूक्ति दोष नहीं है, यमक अलङ्कार है। डा० गुप्त तथा डा० मिश्र के संस्करणों में 'गंगा' शब्द की पुनरावृत्ति हुई है—

पुरब दिसा जरगी फिरि आई। उत्तर पछिम गंग गढ़ खाई।
देखे बनै जाइ नहिं कही। गढ़ भीतर गंगा चलि बही।"

—डॉ० गुप्त (छन्द संख्या ३४)

"पूरब दिस जगरी फिरि आई। उत्तर पछिन गंगा गढ़ खाई।
देखत बनै जाइ नहिं कहई। गढ़ भीतर गंगा जल रहई।"—

— डॉ० मिश्र (छन्द संख्या ३)

इसके अलावे अगली अर्द्धालियों में कवि मंझन ने; "गढ़ सुहाब गढ़पति सुर ग्यानी" (गुप्त)[२३] इत्यादि लिखा है। इस पंक्ति में 'सुर' शब्द स्वर के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस शब्द के आधार पर हम निश्चित पूर्वक कह सकते हैं कि 'चनारगी' नगर का संबंध चुनारगढ से नहीं है। 'सुर ग्यानी' के अधार पर चर्नाढ़ी नगर ग्वालियर समीपस्थ रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। इतना तो निश्चित है कि 'मधुमालती'—रचना के समय कवि मंझन का स्थायी निवास स्थान ग्वालियर ही था। कवि का जन्मस्थान ग्वालियर के निकट किसी अनूप-गढ़ के अन्तर्गत 'चर्नाढ़ी' नगर था। चुनारगढ़ से संगीत को प्रश्रय कभी भी नहीं मिला—यह ऐतिहासिक सत्य है।

'मधुमालती' कथा का अन्त छन्द संख्या ५३७ से हो जाता है, परन्तु अन्तिम छन्द सख्या ५३८ में कवि मंझन ने 'अमृत' और 'मृत' पर जो अपना विचार प्रस्तुत किया है, वह सर्वथा सांकेतिक हैं। अपने गुरु शेख मुहम्मद गौस के निधन की ओर कवि का संकेत निहित है। रामपुर पुस्तकालय वाली प्रति के अन्त में एक दोहा है जिसकी अन्तिम पंक्ति है "कविता गात जबहि लहि रहइ जगत महं नाउं॥" इससे यह संकेत निर्देश होता है कि शेख मुहम्मद गौस के दिवंगत होने के बाद 'मधुमालती' की समाप्ति हुई। गौस मुहम्मद का देहान्त विक्रम संवत् १६१९ में हुआ। इसलिए 'मधुमालती' का समाप्तिकाल वि० स० १६१९ के बाद ही आता है।

मलिक मुहम्मद जायसी कृत 'पदमावत' में 'मधुमालती' संबंधी छन्द (संख्या २ ३) का उल्लेख ऊपर किया गया है मधुमालती के उल्लेख से जगन्मोहन वर्मा वर्मा

रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास प्रभृति विद्वानों ने मंझन को जायसी का पूरवर्ती कवि माना है। 'पदमावत' के उक्त छन्द में 'विक्रम-सपनावति', 'सुरैवच्छ मुगधावति', 'मिरगावति' और 'मधुमालति' जेसी तत्कालीन लोक प्रचलित कथाओं का ही उल्लेख जायसी ने किया है। ए० जी० शिरैफ का हवाला देते हुए डाक्टर कमल कुलश्रेष्ठ ने लिखा है:

"जायसी ने जो नामावली उपयुक्त उद्धरण में दी है वह प्रेमाख्यानक काव्यों की न होकर लोक-प्रचलित प्रेम-कहानियों की है, जिसके स्वरूप के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वह हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य जैसा था। यह भी आवश्यक नहीं कि ये कहानियाँ लिखित हों ही, संभव है कि ये एक मात्र मौखिक परंपरा में अस्तित्व रखती हों।"[२४]

ए० जी० शिरैफ ने लिखा है;

"A manuscript of the Mrigavati was described in the report of the Nagari Pracharini Sabha's search for Hindi mss. in 1900, and one or two mss. of the Madhumalati have also been noted upon. But none of these manuscripts is now forthcoming, and until they are rediscovered and critically edited I think it would be most unsafe to base conclusions as to Jaisi's originality on what we have been told about them."

—PADMAVATI (Published by The Royal Asiatic Society of Bengal, Calcutta: 1944)—Page ix (introduction)

शिरैफ साहब का उपरोक्त कथन मंझन कृत 'मधुमालती' की उपलब्ध खण्डित प्रति के आधार पर ही स्थित है। जिन दिनों शिरैफ साहब 'पदमावती' का अंग्रेजी अनुवाद कर रहे थे (सन् १९४२ ई०) उन दिनों तक मंझन कृत 'मधुमालती' की पूर्ण प्रति उपलब्ध नही हुई थी। पूर्ण प्रति प्रकाश में लाने का सर्व प्रथम श्रेय डॉ० शिवगोपाल मिश्र को है। मिश्र जी को सन् १९५५ ई० में एक डलाने निवासी रावत ओउम प्रकाशसिंह के यहाँ से 'मधुमालती' की सम्पूर्ण प्रति कैथी लिपि मे लिखी हुई प्राप्त हुई थी।

महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी ने डाक्टर ग्रियर्सन के सहयोग से "पदुमावति" का सुन्दर संपादन किया और उसका प्रकाशन सन् १८९६ ईस्वी में रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ़ बंगाल (कलकत्ता) द्वारा हुआ। 'मधुमालती' संबन्धित पंक्ति इस ग्रन्थ मे इस प्रकार है—

"साध कुँअर गन्धावति जोगू। मधु मालति कहँ कीन्ह बिओगू॥

—छन्द संख्या २३८

'कुँअर' और 'गन्धावती' की कथा का उल्लेख संपादक द्वय ने किया है जब कि अन्य प्रतियों में इस कथा की चर्चा तक नहीं है। इन विद्वानों के मत से 'मधुमालती' मे इतरेतर द्वन्द्व समास है— 'मधु' (मधुकर) और 'मालति'। मधुकर और 'मालति' की जिस कथा का सारांश दिया गया है, वह मंझन कृत 'मधुमालती' से सर्वथा भिन्न है। (देखें पृष्ठ ११६) मधुमालती' की विभिन्न कथाएं जायसी के समय प्रचलित थीं। जायसी

के कथा-उद्धरणों से यह संकेत नहीं मिलता है, कि उन कथाओं को ग्रन्थ रूप मिला था। 'मधुमालती' की कथा जायसी के समय में लोक प्रसिद्ध कर चुकी थी और इस प्रकार की किसी कहानी का ज्ञान जायसी को भी रहा होगा। मंझन ने उसी लोककथा को आगे चलकर ग्रन्थ रूप में साकार किया। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने भी लिखा है कि 'शेख मंझन की 'मधुमालती' के कथानक का मूलस्रोत भी किसी पुरानी कहानी मे ही ढूँढ़ा जा सकता है। कवि मंझन ने भी : "आदि कथा द्वापर चलि आई। कलियुग मंह भाखा कै गाई॥"—कह कर यह स्वीकार किया है कि 'मधुमालती' की कथा परम्परा से चली आ रही थी और कवि के समय में भी प्रचलित थी। डॉ० शिवगोपाल मिश्र ने आगे चलकर इसी लोककथा की पुष्टि की है—

"यहाँ पर यह कह देना असंगत न होगा कि 'मृगावती' तथा 'मधुमालती' नामक रचनाओं के नाम तो प्राचीन भारतीय साहित्य से ग्रहण हुए हैं, किन्तु उनकी कथा वस्तुओ को किन्हीं लौकिक आख्यानों से ग्रहण करके ही ये रचनायें रची गई हैं।"[२६]

जायसी के पद में भी उसी लोककथा का संकेत है।

बनारसीदास जैन ने 'मधुमालती पोथी' का उल्लेख अपनी 'अर्द्धकथा' नामक आत्म-कथा (रचनाकाल वि० सं० १६६८) में किया है—

"सब घर मैं बैठे रहै, नाहिन हाट बजार।
मधुमालती मृगावती, पोथी दोय उचार॥३३५ (छन्द संख्या)

ते बांचे रजनी समै, आवैं नर दश बीस।
गावैं अरु बातें करै, नित उठि देहि असीस॥"३३६ (छन्द संख्या)

'मृगावती' के बाद 'मधुमालती' की रचना हुई, यह निश्चित है। इन छन्दो मे बनारसीदास जैन ने 'मृगावती' का क्रम 'मधुमालती' के बाद रखा है, इसलिए डॉ० शिव-गोपाल मिश्र के विचारानुसार उपरोक्त छन्द में उल्लिखित 'मधुमालती' मंझन कृत रचना नहीं है।

इस छन्द में 'पोथी' शब्द के साथ ही 'बाँचे' शब्द प्रयुक्त है। इसके अलावे कवि बनारसीदास जैन ने इन ग्रन्थो के लिए अंकित पंक्ति (उपरोक्त छन्दो की) मे "गावै अरु बाते करै" स्पष्ट रूप से लिखा है। कवि मंझन ने 'मधुमालती' की रचना गेय पदों में ही की है। मझन ने "अंब्रित कथा कहाँ अब गाई" लिखा है। अन्य कई छन्दों मे कवि ने 'मधुमालती'—कथा गाकर सुनाने की चर्चा की हैं—(छन्द संख्या डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा संपादित ग्रन्थ से उद्धृत है।)

१. "अंब्रित कथा सुरस रह सुनुहु कहौं सम गाई।"—छन्द सं० ३९
२. "आदि कथा द्वापर चलि आई। कलियुग महँ भाखा कै गाई।"—छन्द सं० ४४
३. "बरहै बरिख कहौं अब गाई। सहज राजचित उपजेउ आई।"—छन्द सं० ५६

'मधुमालती' की कथा गाकर ही सुनाई जाती थी। मंझन कृत 'मधुमालती' ग्रन्थ **की ओर ही कवि बनारसी दास जैन का संकेत निर्दिष्ट है रही बात मृगावती के पूर्व**

'मधुमालती' का 'अर्द्धइया' में उल्लेख होना। 'मृगावती' के पूर्व 'मधुमालती' का उल्लेख कवि का एक मात्र क्रमदोष (कालदोष) ही कहा जायेगा। इस क्रमदोष के कारण मंझन कृत 'मधुमालती' को नजर अंदाज नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार के क्रमदोष का शिकार बहुत से कवि हुए हैं। भिखारीदास के निम्न सवैया में कवियो के उल्लेख में क्रमदोष (कालदोष) स्पष्ट रूप से परिलक्षित है—

"एक लहैं तपपुञ्जन्ह के फल
ज्यों तुलसी अरु सूर गोसाँई।
एक लहैं बहु सम्पति केशव
भूषन ज्यों बरवीर बड़ाई॥
एकन्ह को जसही सो प्रयोजन
है रसिखानि रहीम की नाँई।
दास कवित्तन्ह की चरचा
बुद्धिवन्तन को सुखदै सब ठाँई॥"

तुलसी के बाद सूरदास,[२७] भूषण[२८] के बाद बीरबल, रसखान[२९] के बाद अब्दुलर्रहीम खानखाना का क्रम सर्वथा कालदोष पूर्ण है। क्रम दोष के कारण इन कवियों के स्थितिकाल की उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

उसमान कृत 'चित्रावली' (रचनाकाल हिस्ट्री सन् १०२२ तद्नुसार संवत् १६७० विक्रमी) में 'मधुमालति' का उल्लेख हुआ है—

"मृगावती मुख रूप बसेरा। राजकुँवर भयो प्रेम अहेरा॥
सिघल पदमावति भो रूपा। प्रेम कियो है चितउर भूपा॥
मधुमालति होइ रूप देखावा। प्रेम मनोहर होई तह आवा॥"

इस सवैया में कुतुबन कृत 'मृगावती' और जायसी कृत 'पदमावति' के बाद ही मंझन कृत 'मधुमालती' का क्रम आया है और यह क्रम रचना काल के अनुसार निर्दोष है। 'मृगावती' का रचनाकाल विक्रम संवत् १५६० माना जाता है और 'पदमावति' की रचना जायसी ने संवत् १५९७ विक्रमी में की थी। इस संवत के बाद 'मधुमालती' का निर्माण हुआ, यह सन्देह मुक्त है। हमने ऊपर यह लिखा है कि 'मधुमालती' का प्रारम्भ कवि मंझन ने विक्रम संवत् १६६० और १६११ के बीच किसी समय किया था।

'मधुमालती' कवि की प्रौढ़ रचना है। इस्लाम-धर्मावलम्बी होते हुए भी कवि मंझन ने भारतीय योग-साधना का काफी मननपूर्वक अध्ययन किया था। इस ग्रन्थ में कवि के गहन आध्यात्मिक विचार का प्रस्फुटन हुआ है। प्रेम के रहस्य का जितना विशुद्ध निरूपण 'मधुमालती' में मिलता है उतना अन्य किसी हिन्दी सूफी साहित्य में नहीं। पूर्ण वयस्कता प्राप्त व्यक्ति से ही प्रेम के रहस्य की ऐसी अभिव्यक्ति अपेक्षित है कवि के जिस प्रौढ़ विचारो

का दर्शन मधुमालती में होता है उससे यह अनुमान लगाना असंगत प्रतीत नहीं होता है कि ग्रंथ निर्माण के समय मंझन की अवस्था कम से कम ३० वर्ष की अवश्य रही होगी इस प्रकार मंझन का संभावित जन्म संवत् १५७७ वि० के आसपास ठहरता है।

'मधुमालती' के निम्न पद में मंझन ने शाहे वक्त 'सलीमसाह' सूर को स्वतः आशीर्वाद न देकर 'नौ खण्ड' पृथ्वी द्वारा आशीर्वाद दिलवाया है:

"नौखंड देइ असीसि पिरथिमीं राज करहु जग मांह।
जौ लहि ससिहर सूर धुव कामेय जग पर छांह ॥

—छंद संख्या ११ (सं० माताप्रसाद गुप्त)

उपरोक्त छन्द से ऐसा संकेत निर्देश होता है कि कवि मंझन शाहे वक्त 'सलीम साहसूर' से अवस्था में छोटे थे, इसीलिए तो 'नौखण्ड पिरथिमी' आशीर्वाद देती है। अगर मंझन उम्र में 'सलीमसाह' से बड़े होते तो कवि स्वतः आशीर्वाद देते। अवस्था में अपने से बड़े को और उस पर भी 'शाहे वक्त' को आशीर्वाद देना एक ब्राह्मण व्यक्ति के लिए अस्वाभाविक नहीं है, परन्तु मंझन जैसे मुसलमान के लिए तर्क संगत नहीं है। जायसी ने 'पदमावत' में शाहेवक्त शेरशाह को आशीर्वाद दिया है:

"दीन्ह असीस मुहम्मद करहु जुगहि जुग राज।
पातसाहि तुम्ह जगके जग तुम्हार मुहताज ॥ छंद संख्या १३

शेरशाह से जायसी उम्र में बड़े थे।[३०] इसीलिए जायसी ने शेरशाह को आशीर्वाद दिया है। मंझन अवस्था में 'सलीम' से छोटे थे—यह निश्चित है। 'सलीमसाह सूर' के जन्म के बाद कवि मंझन का जन्म होना समीचीन है।

'सलीमसाह सूर' के जन्म के विषय में प्रायः सभी इतिहास कार मौन हैं। सलीम शेरशाह का पुत्र था और शेरशाह का जन्म वि० सं० १५३७ में हुआ था।[३२]

शेरशाह का विवाह कब हुआ था, इसकी कोई निश्चित तिथि किसी भी इतिहासकार ने नहीं दी है। शेरशाह के तृतीय पुत्र अब्दुर्रशीद उर्फ कुतुब्ब खान का जन्म विक्रम संवत् १५७४ में हुआ था, जो प्रामाणिक है। इसके जन्म संवत् के आधार पर डाक्टर कालिका रंजन कानूनगो ने एक तर्क सम्मत अनुमान का सहारा लेकर 'सलीमसाह सूर' का जन्म संवत् १५७२ विक्रमी में माना है। उसने अपने अंग्रेजी ग्रन्थ "शेरशाह एण्ड हिज टाइम्स" मे लिखा है:

"A casul reference to the age of Farid's youngest son, Abdur Rashul (alias Qutb Khan) who was a miner, and about fifteen years old when he was surrendered as a hostage and sent under an ATALIQ guardian (tutor) to serve under Emperor Humanyun in 1532,—places his birthdate about the year 1517. This date perhaps affords a safe basis for fixing the dates of birth of Farid's other children, and also that of the approximate dated of Farid's first marriage.

"Calculating back from 1517 (the tentative birth-date of Farid's third son (and allowing for a minimum of two years as the normal

interval between their births, Farid's second son, Jalal Khan (the deferder of Chunar against Humanyun in 1532) must have been born in c. 1515'—
— SHER SHAH AND HIS TIMES (Published by orient Longmans Ltd., Calcutta)—pp. 33.

डाक्टर कालिकारंजन कानूनगो की इस मान्यता से हम सहमत हैं। 'सलीमसाह सूर' का जन्म विक्रम संवत् १५७२ (सन् १५१५ ई०) में होना निश्चित है। जैसा कि ऊपर लिखा गया है कि मंझन 'सलीमसाह सूर' से अवस्था में छोटे थे, इसीलिए 'सलीमसाह' के जन्म संवत् १५७७२ के बाद ही मंझन का जन्म हुआ। विक्रम संवत् १५७२ और १५७७ के मध्य किसी समय कवि मंझन का जन्म निश्चित रूप से हुआ। एकाध वर्ष के अवस्थान्तर का ज्ञान रखना सर्वथा दुर्बोध है और इतने अवस्थान्तर को नजर अंदाज करते हुए, समवयस्की ही कहा जाता है। 'सलीम साह सूर' से मंझन उम्र मे इतने तो छोटे अवश्य रहे होंगे जिसका ज्ञान सहजरूप से हो सकता है। सलीम और मंझन में कम से कम पांच वर्ष का अवस्थान्तर अवश्य रहा होगा। इस लिये मंझन का जन्म वि० सं० १५७७ के लगभग होना समीचीन है।

निधन काल

कवि मंझन का निधनकाल बहुत ही संदिग्धावस्था में है। कोई ऐसी उपलब्धियाँ नही है, जिन्हें प्रमाणकोटि में प्रस्तुत किया जा सके। मंझन के परवर्ती अन्य किसी भी लेखक ने स्पष्ट रूप से मंझन के दिवंगत होने की चर्चा नहीं की है। कवि का निधन बनारसीदास जैन कृत 'अर्द्धकथा' की रचना के पूर्व निश्चित रूप से हो चुका था। 'अर्द्धकथा' मे 'मधुमालती' ग्रन्थ का उल्लेख है। बनारसीदास जैन ने 'मधुमालती' के रचयिता का नाम तो नहीं दिया है, परन्तु उल्लिखित ग्रन्थ में प्रणेता एक मात्र मझन ही हैं, जिसका समाधान ऊपर के पृष्ठो मे किया गया है। अन्य कई कवियों ने भी 'मधुमालती' नाम के ग्रन्थो का निर्माण किया है। 'मधुमालती-वार्ता' नामक एक ग्रन्थ का पता चला है, जिसके निर्माता चतुर्भुज दास कायस्थ है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल विक्रम संवत् १६०० माना जाता है। परन्तु इस 'मधुमालती-वार्ता' की ओर संकेत 'अर्द्धकथा' में बनारसीदास जैन का नहीं है। 'मधुमालती' प्रेमाख्यानक काव्य है और 'बनारसी आसिकबाज' ("तजि कुलकान लोक की लाज। भयो बनारसी आसिकबाज॥" —छन्द संख्या १७० के लिए मंझन कृत 'मधुमालती पोथी' को 'रसनीसमै' गाकर बांचना तर्क सम्मत है। 'अर्द्धकथा' का रचना-काल सं० १६९८ है। उन दिनो मझन जीवित नही थे। वि० सं० १६९८ से पूर्व ही कवि मंझन का देहावसान निश्चित रूप से हो चुका था।

उसमान ने 'चित्रावली' में जिस 'मधुमालती' का उल्लेख किया है, वह मंझनकृत ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं। 'मृगावती' तथा 'पदमावती' कथा की भी चर्चा कवि ने चित्रावली में की है। ये तीनों ग्रन्थ सूफी प्रेमाख्यानक काव्य हैं। आख्यान कवि मियाँ से ग्रन्थो का उल्लेख सम्भव है सूफी मत के अनुयायी ये

मृगावती-कार कुतबवन, 'पदमावती' के कवि जायसी तथा 'मधुमालती' के प्रणेता (मंझन?) ये तीनों कवि भी सूफी थे। इसलिए उसमान ने जिस 'मधुमालती का उल्लेख अपने ग्रन्थ 'चित्रावली' में किया है, उसके कवि एक मात्र मंझन ही हो सकते हैं। 'चित्रावली' निर्माण के समय मन्झन निश्चित रूप से काल कवलित हो चुके थे। इस ग्रन्थ की रचना विक्रम सम्वत् १६७० में हुई थी। इस सम्वत् (१६७०) के पूर्व ही मंझन का निधन होना प्रामाणिक है। बाबू ब्रजरत्नदास के मतानुसार मंझन वि० स० १३६८ तक जीवित रहे। कलकत्ता से विक्टोरिया मेमोरियल हाल की पिक्चर गैलरी में खानखाना के पुत्र दाराब खाँ का एक चित्र है। इस चित्र में एक कवित्त है—

"दर्प दरबार आयो ओचक ही हरबर, अंबर अनीक वर बरबर करकै।
तरवि तुरकमान साहसी बराबखान, कीनो कतलाने घमसान उग्र करिकै।
'मंझन' सुकवि कहैं चहै चाह पाई जहाँ, जीत को नगारयो बज्यौ बीतत समर कै।
जौ लौं हिमांचल तौ सौं डमरू बजावे संभु, तौ लौं डाक चौकीउं कि मार्‌यो हरहर कै।

ब्रजरत्न दास ने उपरोक्त कवित्त का संबंध सन् १६२० की घटना से माना है और इसलिए इन्होंने कवि मंझन का वि० संवत् १६६८ तक जीवित रहने का अनुमान लगाया है।[३२] ब्रजरत्नदासजी का यह विचार समादृत नहीं है। 'मधुमालती' कार मंझन ने 'कवित्त' की रचना नहीं की है। इस छन्द में जिस प्रकार की भाषा प्रयुक्त है 'मधुमालती' के कृतिकार ने नहीं अपनाई है। इसके अलावे भाव भी 'मधुमालती' के प्रणेता के भाव से सर्वथा भिन्न हैं। यह प्रामाणिक है कि मंझन सूफी थे और एक सूफी कवि के द्वारा ऊपर लिखित कवित्त निर्मित होना संभव प्रतीत नहीं होता है। इस कवित्त में 'मंझन सुकवि' की चर्चा है, इस लिए 'मधुमालती' कार मंझन से पृथक ये अन्य कोई कवि हैं। रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि "कबित्त-सवैया बनाने वाले एक 'मंझन' पीछे हुए हैं जिन्हें इनसे (सूफी कवि मंझन) सर्वथा पृथक समझना चाहिए।"[३३]

ऊपर जन्मकाल के अन्तर्गत लिखा गया है कि 'मधुमालती' की समाप्ति कवि मझन ने शेख मुहम्मद गौस के निधन संवत् १६१६ विक्रमी के बाद की थी। इस आधार पर इतना तो निश्चित है कि कवि विक्रम संवत् १६२६ तक जीवित थे। मेरा अनुमान है कि शेख मुहम्मद गौस के दिवंगत होने के कुछ ही दिनों बाद मंझन ने 'मधुमालती' को पूर्ण कर दिया था। संभवतः यह कृति कवि की अंतिम रचना है।

भारत कला भवन की नागरी लिपि में लिखित 'मधुमालती' प्रति का सर्व प्रथम उल्लेख पण्डित चन्द्रबली पाण्डेय ने किया था। डाक्टर कमलकुलश्रेष्ठ ने इसे नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित बतलाया है। इस प्रति के विषय में डॉक्टर माताप्रसाद गुप्त ने लिखा है कि, जिस समय मैं इस प्रति के पाठ का मिलान करने गया, यह प्रति नहीं मिल सकी। इसकी सं० १९९९[३४] में सावधानी से की हुई एक प्रतिलिपि से ही काम निकालना पड़ा जो कि भारतकला भवन में रक्खी हुई है।"[३५] इसमें ७६ पत्र हैं। इस प्रतिलिपि के अन्त में निम्न पुष्पिका है

"इती स्त्री मधुमालती कथा सेष मंझन कृत समाप्त/सं० १६४४ अगहन सुदी १५ बृहस्पति लिखितं माधोदासु कोहिली काशी मध्ये/पोथी माधोदास कोहिली की।"

इस प्रतिलिपि के अवलोकन से पता चलता है कि माधोदास कोहिली द्वारा तय्यार की गई 'मधुमालती' प्रति अत्यधिक त्रुटित हैं। प्रारम्भ के तथा बीच के कुछ पत्र गायब हैं। २८३ की अर्द्धाली से प्रारंभ होकर ३३८ तक की अर्द्धालियाँ हैं, परन्तु इसके बाद ४१८ तक की अर्द्धालियाँ नहीं मिलती। उपरोक्त पुष्पिका से इतना तो निश्चित है माधोदास कोहिली ने 'मधुमालती' की इस प्रति को विक्रम संवत् १६४४ में लिखा था। कवि मंझन की हस्त लिखित 'मधुमालती' की प्रति की प्रतिलिपि माधोदास कोहिली वाली प्रति नहीं है। किसी अन्य प्रतिलिपि की यह (माधोदास वाली प्रति) प्रतिलिपि है। 'काशी मध्ये' यह प्रतिलिपि तय्यार की गई। 'मधुमालती' का प्रचार काशी तक फैल गया। कवि मंझन की मृत्यु के बाद ही उनके ग्रन्थ 'मधुमालती' की प्रतिलिपियाँ तय्यार होने लगीं। इससे यह निश्चित है कि विक्रम संवत् १६४४ तक कवि दिवंगत हो चुके थे। उपरोक्त पुष्पिका में मंझन को 'सेष' कहा गया है। 'मधुमालती' की रचना के बाद कवि को शेख की उपाधि से विभूषित किया गया हो तो आश्चर्य नहीं। जिस प्रकार की आध्यात्मिकता 'मधुमालती' में परिलक्षित है, कृतिकार को शेख की संज्ञा देना स्वाभाविक है। इससे यह अनुमान होता है कि कवि ने पचास से अधिक की आयु का उपभोग किया था। कवि का जन्म विक्रम संवत् १५७७ में हुआ। इसलिए विक्रम संवत् १६२७ के बाद ही कवि का दिवंगत होना सिद्ध होता है। विक्रम संवत् १६३० तक तो कवि का जीवित रहना संभावित है। माधोदास कोहिली जिन दिनो (विक्रम संवत् १६४४) 'मधुमालती' की प्रतिलिपि काशी में कर रहे थे, उन दिनों कवि को काल कवलित हुए तीन-चार वर्ष ही हुए होंगे। इस प्रकार 'मधुमालती' कार कवि मंझन का निधन विक्रम संवत् १६४० के लगभग निश्चित रूप से हो गया था।

संदर्भ-संकेत

(१) हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य : ले० डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ (प्रकाशक : साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद : सन् १९६२ ई०)—पृ० ३७ (विषय प्रवेश) (२) हिन्दी साहित्य का इतिहास (प्रकाशक : काशी नागरी प्रचारिणी सभा : सं० २००३ वि०)—पृ० ९८ (३) हिन्दी साहित्य) (प्र० इण्डियन प्रेस लि०, प्रयाग : तृतीय संस्करण)-पृ० २३२ इसके पूर्व की रचना 'हिन्दी भाषा और साहित्य' (वि० १९९४) में सिर्फ मंझन के नाम का उल्लेख (पृ० २९४) बाबू श्यामसुन्दर दास ने किया है।—लेखक (४) मधुमालती (प्र० मित्र प्रकाशन प्रा० लि०, इलाहाबाद)—पृ० १३ (भूमिका) (५) ईलियट और डाउसन द्वारा संपादित 'भारत का इतिहास'। चतुर्थ खण्ड (तारीख-ए-दाऊदी)-पृ० ३६९ (प्र० शिवलाल अग्रवाल एण्ड कं०, आगरा) (६) The Chronicles of the Pathan Kings of Delhi : 1667 (published by Munshiram Manoharlal Delhi-page 441 (७) History of the Rise of the Mahomedan Power in India : Vol-II by John Briggt (published by B Cambray &. Co., Calcutta) 198 (८ **त्रैमासिक हिन्दुस्तानी**

(९) वही। (१०) Muntakhabul-Tawarikh: Vol II (Published by Asiatic Society of Bengal, Calcutta)—page 28 (११) Ibid—Page 62 (१२) Ibid—Page 62 (१३) The History of India (published by Kitab Mahal, Allahabad)—page 397-998 (१४) 'जायसी तिथिक्रम और गुरु परम्परा 'शीर्षक लेख (हिन्दी अनुशील : धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक)-पृ० ३६७ (१५) सूफी महाकवि जायसी (डा० जयदेव)-प्र० भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़ : पृ० ३७ (फुटनोट) (१६) Aini-Akbari : Part I (Published by Asiatic Society of Bengal Calcutta : 1939) page 680 (footnote) (१७) Muntakhabul-Tawarikh (Published by Asiatic Society of Bengal, Calcutta : 1924)—page 37 part-2 (१८) "Swami Haridas who taught music to Tansen" by S. B. Babbanji published in the Sunday issue of INDIAN NATION, Patna of 25th Sepetember, 1966 (१९) The Cambridge History of India; Vol. IV (published by S. Chand & Co., Delhi)—page 61 (२०) मंझन कृत मधुमालती (प्र० हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय वाराणसी-द्वितीय संस्करण)-पृ० ११ (भूमिका) (२१) हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य (प्र० साहित्य भवन लि०, इलाहाबाद : १९६२ ई०)-पृ० २९ (२२) कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह (प्र० काशी नागरी प्रचारिणी सभा) में संकलित लेख—पृ० २७ (२३) "गढ़ सोहावन गढ़पति सुर थाना।"—डा० मिश्र के संस्करण (एकडला प्रति में 'गढ़पति' के स्थान पर 'सुरपति' शब्द है। (२४) हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य (प्र० साहित्य भवन लि०, इलाहाबाद : १९६२ ई०)-पृ० २९ (२५) हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यान (प्र० हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर प्रा० लि०, बम्बई)-पृ० ७१ (२६) मंझन कृत मधुमालती (प्र० हिन्दी प्रचारक, पुस्तकालय, वाराणसी : द्वितीय संस्करण)—पृष्ठ १५ (भूमिका) (२७) तुलसीदास का निधन संवत् १६८० है परन्तु सूरदास का निधन वि० सं० १६३१ है (देखें लेखक का 'सूरदास का निधनकाल' शीर्षक लेख : हिन्दुस्तानी-भाग २४ : अंक : अक्टूबर-दिसम्बर १९६२) (२८) बीरबल का सम्बन्ध अकबरी दरबार से था, यह ऐतिहासिक सत्य है, परन्तु भूषण औरंगजेब का समकालीन था। भूषण की मृत्यु वि० सं० १८०० के लगभग हुई (देखें लेखक का 'भूषण का समय-निरूपण' शीर्षक लेख : साहित्य परिचय-अक्टूबर-नोवम्बर १९६८) (२९)रसखान का समय वि० सं० १६२०-१६८५/८६ है (देखें लेखक का 'रसायन काल निर्णय' शीर्षक लेख, भारतीय साहित्य : वर्ष ११ : अंक ३-४ (३०) "जायसी का स्थिति काल" शीर्षक लेख : हिन्दुस्तानी (ले० हरिप्रसाद नायक) (३१) "THE BIRTH-DATE OF SHERSHAH" written by Hari Prasad Nayak—Modern Review, Calcutta (December. 1968) (३२) मंझन कृत मधुमालती : सं० डा० शिवगोपाल मिश्र (प्र० हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी : द्वितीय संस्करण)-पृ० ६ (भूमिका) (३३) हिन्दी साहित्य का इतिहास (सं० २००३ वि०)-पृ० ९९ (३४) भारत कला भवन के अध्यक्ष श्री रायकृष्णदास जी ने इस प्रति की एक अन्य प्रतिलिपि अगहन सुदी ११ शुक्रवार संवत् १९९९ में बटुक प्रसाद कायस्थ द्वारा कराई है।"—शिवगोपाल मिश्र (३८) मंझन कृत मधुमालती : ले० माताप्रसाद गुप्त (प्र० मित्र प्रकाशन प्रा० लि०, इलाहाबाद) पृ० २७-२८ (भूमिका)

चिन्तामणि का जीवन-वृत्त

सत्यकुमार चन्देल

चिन्तामणि नामधारी अनेक कवि

हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत तीन-चार चिन्तामणि नामधारी कवियों का उल्लेख किया जाता रहा है। सर्वप्रथम ठा०शिवसिंह सेंगर ने अपने 'सरोज' के अन्तर्गत चिन्तामणि नामधारी दो कवियों का अस्तित्व स्वीकार किया, जिनमें से प्रथम चिन्तामणि तो कवि-कुलकल्पतरुकार ही है और द्वितीय चितामणि का एक ही छन्द उद्धृत करने के अतिरिक्ति लेखक ने कवि के समय, निवास-स्थान आदि का कोई उल्लेख नहीं किया।[1] परवर्ती विद्वानों में किशोरी-लाल गुप्त ने सर ग्रियर्सन के इतिहास-ग्रन्थ का अनुवाद करते समय इस मान्यता का खण्डन कर इन्हें प्रसिद्ध चिन्तामणि से अभिन्न मान लिया है।[2] यद्यपि इस सम्बन्ध में पुष्ट और ठोस प्रमाणों की आवश्यकता है। ऐसी दशा में इन दोनों की अभिन्नता अथवा भिन्नता के सम्बन्ध में यद्यपि विवाद है किन्तु फिर भी भाषा के आधार पर सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि द्वितीय चिन्तामणि कविकुलकल्पतरुकार से अभिन्न नहीं, क्योंकि प्रसिद्ध चिन्तामणि ने अपने काव्य में विशुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग किया है जब कि द्वितीय चिन्तामणि की ब्रजभाषा में खड़ीबोली का पुट स्पष्टत: परिलक्षित होता है। ठा० शिव सिंह सेंगर द्वारा किया गया वह पर्याप्त तर्कसंगत है। अस्तु यह कहा जा सकता है कि द्वितीय चिन्तामणि 'कविकुलकल्पतरु' के रचयिता के परवर्ती कवि हैं। इधर पं० भगीरथ प्रसाद दीक्षित ने भी चिन्तामणि नामधारो दो कवियों की कल्पना करते हुए. प्रसिद्ध चिन्ता-मणि का समय संवत् १७०० वि० से लेकर १७३८ वि० तक और द्वितीय चिन्तामणि का सबत् १७४५ वि० के बाद से स्वीकार किया है।[3] द्वितीय चिन्तामणि को ही दीक्षित जी रुद्रशाह सोलंकी का राज्याश्रित कवि एवं 'कविकुलकल्पतरु' का रचयिता मानते है। कहना न होगा कि दीक्षित जी की इस कल्पना का यद्यपि कोई आधार नहीं है तथापि इसे यदि स्वीकार करें तो भी यह असंगत ही ठहरती है, कारण इस समय के पूर्व ही चिन्तामणि अनेक प्रसिद्ध ग्रन्थों का सजन कर चुके थे।[4] दूसरे इस विषय में यह भी कहा जा सकता

है कि संवत् १६४५ तक भी वे विद्यमान रहे हों क्योंकि संवत् १७३८ और १७४५ में विशेष अन्तर नहीं; फ़िर ठा० शिवसिंह सेंगर ने रुद्रशाह सोलंको की प्रशस्ति में चिन्तामणि द्वारा रचित जो छंद उद्धृत किया है,[५] उससे भी इसी धारणा की पुष्टि होती है कि चिन्तामणि रुद्रशाह के आश्रित कवि थे। अस्तु यह कहा जा सकता है कि शाहजहाँ एवं रुद्रशाह के आश्रय मे काव्य-रचना करनेवाले एक ही चिन्तामणि थे दो नहीं। इनके अतिरिक्त नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्ट में एक अन्य चिन्तामणि उपनामधारी लालमनियार सिंह का उल्लेख मिलता है इन्हीं चिंतामणि को उक्त सभा के पुस्तकालय से 'चौंतीसो' नामक एक पुस्तिका प्राप्त हुई है जिसके अन्त में दी हुई पुष्पिका के अंतर्गत रचयिता कवि ने स्पष्ट संकेत किया है कि उसका रचना-काल संबत् १८४७ वि० के आसपास है। ऐसी परिस्थिति में ये परवर्ती कवि हैं ही। इसलिए इन्हे किसी भी दशा में कविकुलकल्पतरुकार से अभिन्न नहीं माना जा सकता। यह बात दूसरी है कि इनका भी उपनाम चिंतामणि हुआ। संक्षेप में कह सकते है कि हिन्दी-साहित्य के अंतर्गत तीन चिंतामणि नामधारी कवि रहे हैं, जिनमें एक हमारे आलोच्य और शेष दो उनके परवर्ती हैं।

जन्म

चिन्तामणि त्रिपाठी के जन्म-संवत् के विषय में प्रामाणिक सामग्री का प्रायः अभाव ही है। वैसे तो विद्वानों ने इनके जन्म-संवत् के विषय में अपनी-अपनी मान्यताएँ स्थापित की हैं, किन्तु वस्तु स्थिति यह है कि वे किसी भी प्रकार की प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुतनहीं कर सके हैं। स्वयं कवि ने भी इस विषय में कहीं पर स्पष्ट संकेत नहीं किया। ऐसी परिस्थिति मे बहिरसाक्ष्य पर ही विश्वास करके रह जाना पड़ता है। इस संबंध में सर्व प्रथम ठा० शिवसिंह सेंगर ने चिन्तामणि-रचित रुद्रशाह सोलंकी-विषयक छन्द उद्धृत कर अप्रत्यक्ष रूपसे उन्हें इनका आश्रित कवि मानते हुए यद्यपि इनका जन्म संबत् १७२९वि०निश्चित कर दिया है फिर भी यह विश्वसनीय नहीं कहा जा सकता, कारण, लेखक ने 'कविकुलकल्पतरु' को रुद्रशाह सोलंकी के लिए लिखा हुआ मानते हुए उसका जो छन्द उद्धृत किया है वह इसमें है ही नहीं। इसके अतिरिक्त कवि ने अपने इसी ग्रन्थ (कविकुलकल्पतरु) में 'पिंगल' एवं 'श्रृङ्गार-मन्जरी' नामक ग्रन्थों का उल्लेख किया है जिनका रचनाकाल सम्वत् १७५२ वि० से लेकर १७३० वि० तक बैठता है।[६] चिन्तामणिकृत 'रसविलास' नामक एक अन्य ग्रन्थ भी प्राप्त हुआ है जिसका रचनाकाल सम्वत् १६९२-९२ वि० बैठता है। इस आधार पर यह निश्चित हो जाता है कि 'कविकुलकल्पतरु' की रचना से पूर्व चिन्तामणि को शाहजी भौंसला एवं अकबरशाह का आश्रय प्राप्त हो चुका था। अकबरशाह के आश्रय में ये सम्वत् १७३० वि० में 'श्रृंगारमंजरी' की रचना कर चुके थे।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मिश्र बन्धुओं की मान्यताओं से सहमति प्रकट करते हुए चिन्तामणि का जन्म-संवत् १६६६ वि० माना है, परन्तु उन्होंने इस मान्यता की स्थापना में कोई पुष्ट प्रमाण नहीं दिया और न इसे स्पष्टत प्रामाणिक ही कहा है प्रमाण पुष्ट न होते हुए भी परवर्ती विद्वानों ने प्राय इसी का अनुकरण किया है इस

डॉ० सत्यदेव चौधरी ने चिंतामणि के जन्म-संवत् के विषय में जिन मान्यताओं की स्थापना की है वे आपस में मेल नहीं खातीं। उन्होंने 'हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास' के अन्तर्गत इनका जन्म-संवत् १६६०-६५ वि० और अपने शोध-प्रबन्ध में १६६६ वि० स्वीकार किया है।[९] राज्याश्रय में लिखे गये चिन्तामणि के सर्वप्रथम ग्रन्थ के विषय में भी कोई निश्चित तथ्य उपलब्ध नहीं, किन्तु मुझे अब तक चिंतामणि के जो ग्रन्थ प्राप्त हो सके है उनमें 'रसविलास' ही कालक्रमानुसार सर्वप्रथम रचना सिद्ध होता है। हो सकता है इस ग्रन्थ की रचना से पूर्व भी इस कवि ने एक दो ग्रन्थों का प्रणयन किया हो, पर यह अनुमान ही है। इसीलिये हमने 'रसविलास' को उसकी प्रथम कृति माना है। इसका रचनाकाल संवत् १६९२-९३ वि० ठहरता है। चूंकि ऐसे प्रौढ़ ग्रन्थ की रचना करने के लिये कम से कम ३०-३५ वर्ष की अवस्था अनिवार्य हैं। अतः कह सकते हैं कि चिन्तामणि का जन्म संवत् १६६० वि० वि० के आसपास हुआ होगा।

वर्ण-गोत्रादि :

चिंतामणि के वर्ण-गोत्रादि के विषय में प्रामाणिक सामग्री का प्रायः अभाव है। परम्परा से ये त्रिपाठी ब्राह्मण कहे जाते हैं[१०], किन्तु ये कौन से त्रिपाठी थे इस सम्बन्ध मे निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता, कारण, एतद्विषयक अन्त:साक्ष्य उपलब्ध नही होता। पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने यद्यपि 'रामाश्वमेध' नामक ग्रन्थ के आधार पर इन्हें कश्यपगोत्रीय मनोह के तिवारी कहा है,[११] किन्तु उनका यह कथन इसलिए मान्य नही हो सकता क्योंकि उनका यह आधार-ग्रन्थ अप्रामाणिक और प्रसिद्ध चिंतामणि के परवर्ती किसी अन्य चिंतामणि नामधारी कवि की रचना ठहरता है।[१२] ऐसी दशा में इनके वर्ण के विषय मे परम्परागत मान्यताओं के आधार पर केवल इतना ही विश्वास करके रह जाना पड़ता है कि ये त्रिपाठी ब्राह्मण थे।

पिता का नाम तथा वंश-परम्परा :

चिन्तामणि के पिता का क्या नाम था, इस सम्बन्ध में वर्ण-गोत्रादि के समान ही प्रामाणिक सामग्री का अभाव है। एतद्विषयक सामग्री प्रस्तोताओं में सर्वप्रथम ठा० शिवसिंह सेंगर का ही नाम आता है। इन्होंने परम्परागत जनश्रुतियों के आधार पर भूषण एवं मतिराम के सम्बन्ध से रत्नाकार त्रिपाठी को इनका पिता कहा है।[१३] किन्तु उनका यह मत भी अप्रामाणिक ही है, कारण, वर्तमान शोध के द्वारा प्रकाशित नवीन सामग्री के प्रकाश में इस किंवदन्ती पर विश्वास नहीं किया जा सकता। इधर डॉ० महेन्द्रकुमार ने अपने शोध-प्रबन्ध के अन्तर्गत यह सिद्ध कर दिया है कि चिन्तामणि का मतिराम के साथ कोई सम्बन्ध नही था।[१४] ठा० शिवसिंह सेंगर द्वारा प्रस्तुत इस कहानी को आधार मानते हुए पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने रतिनाथ उपनाम रत्नाकार को चिन्तामणि का जनक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।[१५] यद्यपि मिश्र जी के समक्ष मतिराम और भूषण द्वारा क्रमश: 'वृत्त कौमुदी' तथा 'शिवराज भूषण' में लिखे गये ९ उपस्थित हैं, जिनसे भूषण मतिराम और चिन्तामणि

का पार्थक्य अत्यन्त स्पष्ट है फिर भी इन्होंने चौबे जी के चिट्ठे का हवाला देकर शिवसिंह सरोजकार द्वारा दी गयी कहानी को प्रामाणिक मानने का प्रयास किया है।[१६] वैसे भी रत्नाकर त्रिपाठी चिन्तामणि के पिता किसी भी परिस्थिति में स्वीकार्य नहीं हो सकते, क्योंकि भूषण ने अपने वंशपरिचय में रत्नाकर को अपना पिता कहा है। यदि ये चिन्तामणि के पिता होते तो भूषण अपने वंशपरिचय में पिता के साथ ही साथ अपने बड़े भाई का उल्लेख अवश्य करते, किन्तु उन्होंने ऐसा कोई संकेत नहीं किया।[१७] इससे हमारी इस धारणा को बल मिलता है कि रत्नाकर त्रिपाठी भूषण के पिता थे चिंतामणि के नहीं।

इसी सम्बन्ध में पं० कृष्णविहारी मिश्र ने चिन्तामणि के नाम से उपलब्ध 'रामाश्वमेध' नामक ग्रन्थ का हवाला देते हुए यह आशंका व्यक्त की है कि यदि यह ग्रन्थ पूर्ण रूप में प्राप्त होता तो इससे चिन्तामणि के पिता एवं वंश-परंपरा का पूर्ण विवरण उपलब्ध हो सकता था ?।[१८] मिश्र जी द्वारा प्रस्तुत इस मान्यता के विषय में हम यही निवेदन कर देना चाहेंगे कि चिन्तामणि के ग्रन्थों की खोज करते समय मुझे भी चिन्तामणि के 'रामाश्वमेध' की एक खण्डित प्रति प्राप्त हुई है जिसकी रचना पिछोर के जाट राजा पहाड़ सिंह के आश्रय में हुई। इस आश्रयदाता के विषय में और अधिक छान-बीन करने पर पता चला कि यह शासक संवत् १८७५ वि० तक विद्यमान था।[१९] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'रामश्वमेध' का रचयिता चिन्तामणि कविकुलकल्पतरुकार का परवर्ती है। अतएव इस ग्रन्थ में उपलब्ध वंशपरिचय को प्रसिद्ध चिन्तामणि का वंशपरिचय नही माना जा सकता। दूसरे इस कवि के 'रसविलास', 'छन्द-विचार', 'शृङ्गार-मंजरी', 'कविकुलकल्पतरु', तथा 'कृष्ण-चरित्र' नामक ग्रन्थों में किसी भी स्थान पर इनका वंश-परिचय उपलब्ध नही। हो सकता है 'रामायण', 'काव्य-प्रकाश' तथा 'काव्य-विवेक' नामक अनुपलब्ध ग्रन्थों में से किसी ग्रन्थ के अन्तर्गत इस कवि का वंशपरिचय विद्यमान हो, किन्तु यह अपने आप में अनुमान ही है—इसके मूल में कोई विशेष आधार नहीं। ऐसी परिस्थिति मे इस कवि के वंश-परिचय तथा पिता के नाम आदि के सम्बन्ध में जब तक प्रामाणिक और स्वयं कवि द्वारा कही हुई सामग्री प्राप्त नहीं होती तब तक इस विषय में निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता।

जहाँ तक चिन्तामणि, मतिराम एवं भूषण के परम्परागत सहोदरत्व का प्रश्न है इस सम्बन्ध में भी यह उल्लेखनीय है कि मतिराम के तो ये सगे भाई थे ही नहीं, क्योंकि 'वृत्त-कौमुदी' में दिए गए मतिराम के वंशपरिचय में[२०] चिन्तामणि का कहीं पर नाम भी नही आता। रही बात भूषण और इनके भाई होने की तो वह भी विश्वसनीय नहीं क्योंकि यदि ये भाई होते तो दोनों में से कोई तो इसका उल्लेख करता ही, पर किसी ने भी ऐसा नही किया। मीर गुलाम अली ने यद्यपि अपने 'तजकरा-ए-सर्व आज़ाद' में इनके बन्धुत्व को स्वीकार किया है,[२१] पर यह भी परम्परागत सुनी-सुनाई बातों पर आधृत होने के अतिरिक्त और कुछ प्रतीत नहीं होता। यदि उनके कथन को प्रामाणिक मान भी लें तो भी भूषण के साथ इनका बन्धुत्व सिद्ध नहीं होता कारण 'शिवराज-भूषण' में भूषण अपने आप को स्पष्ट तिकवापुर का निवासी कहते है[२२] जबकि चिन्तामणि गुलामअली के कोसा

जहानाबाद के थे।[२३] दूसरे भूषण ने इनका अपने ग्रन्थ में कहीं उल्लेख भी नहीं किया इधर बिहारीलाल ने अपनी 'रस-चन्द्रिका' में तीनों कवियों को पृथक-पृथक बसने का जो उल्लेख किया है,[२४] उससे भी यही सिद्ध होता है कि चिन्तामणि इन लोगों मे से किसी के सगे भाई न थे। संयोग की बात है कि ये तीनों ही त्रिपाठी थे। संभवतः इसीलिए भ्रमवश लोग इन्हें सहोदर मानते रहे हैं।

जन्म-भूमि तथा निवास-स्थान :

प्रायः सभी विद्वान चिन्तामणि को तिकवांपुर जिला कानपुर का निवासी मानते है। कवि इस सम्बन्ध में मौन है। इस विषय में मीर गुलाम अली का कथन ही उपलब्ध होना है। उन्होंने अपने 'तजकरा-ए-सर्वआजाद' में चिन्तामणि को कोंड़ा जहानाबाद, जिला फतेहपुर का निवासी बताया है।[२५] पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने मीर गुलाम अली के कथन को सत्य के अधिक निकट बताया है, क्योंकि मीर गुलाम अली को इनके विषय में सत्य बाते जानने का अच्छा अवसर था।[२६] इसलिए मीर गुलाम अली के इस कथन की परीक्षा के लिए मैं कोंड़ा जहानाबाद भी गया, पूछने पर ज्ञात हुआ कि यह स्थान कोंड़ा और जहानाबाद दो स्थानों में विभक्त है। कोंड़ा जहानाबाद से लगभग ५-६ फर्लाङ्ग की दूरी पर स्थित है। यहाँ के कुछ वयोवृद्ध व्यक्तियों से पूछने पर ज्ञात हुआ कि चिन्तामणि नाम के कवि यहाँ बहुत समय पूर्व हुए थे और उनका मकान कोंड़ा में था। लोगों ने मुझे वह स्थान भी दिखाया जहाँ पहले चिन्तामणि का मकान था किन्तु अब उस स्थान को लोगों ने अपनी कृषिभूमि बना लिया है। वस्तुतः इस स्थान (कोंड़ा के प्राचीन मकानों आदि) को देखने पर सहज ही यह विश्वास हो जाता है कि यहाँ पर कभी राजसी ठाटबाट के व्यक्ति रहा करते थे। उपर्युक्त प्राप्त तथ्य लोगों को अपने पूर्वजों से परम्परागत रूप में प्राप्त हुए है। इसके अतिरिक्त चिन्तामणि के वंशजों के विषय में पूछने पर पता चला है कि इनके वंशज सुखनन्दन एवं रघुनन्दन नामक दो व्यक्ति आज से लगभग ७५ वर्ष पूर्व यहाँ रहते थे, परन्तु ये लोग भी इस स्थान को छोड़ चुके हैं। इनके सम्बन्ध में और अधिक छानबीन करने पर केवल यही ज्ञात हो सका कि ये लोग उन्नाव शहर में जाकर बस गये हैं। उन्नाव में आकर पुनः छानबीन करने पर लोगों ने बताया कि सुखनन्दन एवं रघुनन्दन नामक दो व्यक्ति, जो स्वयं को चिन्तामणि का वंशज तथा मनोह के तिवारी बताते थे, कुछ समय पूर्व इस शहर मे रहते थे। अब ये लोग इस शहर को छोड़कर, पता नहीं, उन्नाव के किसी गाँव में जाकर बस गये हैं। चिन्तामणि के विषय में उपर्युक्त सामग्री के अतिरिक्त मुझे एक परम्परागत तथ्य प्राप्त हुआ है कि फतेहपुर जिले की वर्तमान बिंदकी तहसील के मजिस्ट्रेट तथा जहानाबाद के निवासी गंगाप्रसाद जी के पूर्वजों ने चिन्तामणि को कोई ग्राम पुरस्कार में दिया था। अस्तु यह कहा जा सकता है कि ये परम्परागत रूप से प्राप्त तथ्य अपने-आप में इतने अशक्त नहीं कि अविश्वसनीय कहकर इनकी उपेक्षा कर दी जाय। इधर विहारीलाल द्वारा 'रसचन्द्रिका' में दिया गया परिचय इसी ओर संकेत करता है कि चिन्तामणि को हमीर नृप ने तिकवापुर में सम्मान के साथ बसाया था[२७] जिससे स्पष्टत यह ध्वनि निकलती है

कि चिन्तामरिए तिकवांपुर के निवासी न थे। संक्षेप में चिन्तामणि के कथन के साक्ष्य पर यद्यपि उनका जन्म-स्थान नहीं मिलता, पर परम्परा से ये कोंड़ा जहानाबाद के निवासी ही ठहरते हैं।

संदर्भ-संकेत

(१) दे० ठा० शिवसिंह सेंगर कृत 'शिवसिंह सरोज' चतुर्थ संस्करण पृष्ठ ८ (२) दे० किशोरी लाल गुप्त द्वारा किया हुआ सर ग्रियर्सन के 'माडेंन वर्नाक्यूलर लिटरेचर आव हिन्दुस्तान' का हिन्दी अनुवाद प्रथम संस्करण पृष्ठ १५६ (३) दे० पं० भगीरथ प्रसाद दीक्षित कृत 'भूषण विमर्श' सन् १६५० का संस्करण पृष्ठ ३३ (४) शाहजहाँ और शाहजी भौंसला के आश्रय में चिंतामरिए क्रमशः 'रासविलास' और 'छन्द विचार' की रचना कर चुके थे। (५) दे० ठा० शिवसिंह सेंगर कृत 'शिवसिंह सरोज' पृष्ठ ८१ पर उद्धृत यह छन्द—

साहेब सुलंकी सिरताज बाबू रुद्रशाह,
तोसों रन रचत बचत खल्ल कर्ता हैं।
काढ़ी कर बाल काढ़ी करत दुवनदल,
श्रोणित समुद्र क्षीर पर छलकत हैं।
चितामरिए भरगत भखत भूतगरण मांस,
मेद गूद गीदर औ गीध गलकत हैं।
फारे करि कुंभनि मों मोती दमकत मानों,
कारे लाल बादर मों तारे झलकत हैं।

(६) दे० चिंतामरिए कृत 'कविकुलकल्पतरु'
मेरे पिंगल ग्रन्थ तें समुझौ छन्द विचार १/७
प्रोषितभर्तृका को उदाहरण। शृंगारमन्जरी यथा /५/१८४
बड़े साहिब अपने ग्रन्थ मांह। निर्णय कीन्हौं कवि वृद्धि नाह। ५/१८६

(७) दे० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' संवत् २०१४ का संस्करण पृष्ठ २२४। (८) दे० 'माधुरी (वर्ष २ खण्ड २ संख्या ८) के पृष्ठ ३, ३७ पर उद्धृत मीरगुलाम अली का कथन। तथा पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र-कृत 'भूषण' के पृष्ठ ७८ पर उद्धृत बिहारी लाल का कथन-कश्यप वंश कनौजिया बिदितु त्रिपाठी गोत'। (९) दे० 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास' षृष्ठ भाग सं० २०१५ का संस्करण पृष्ठ ३११ (१०) दे० डॉ० सत्यदेवचौधरी-कृत 'हिन्दी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य सन् १६५९ का संस्करण पृष्ठ ३३। (११) दे० पं० कृष्ण बिहारी मिश्र- 'मतिराम ग्रन्थावली भूमिका' पृष्ठ २१७। (१२) दे० 'चिन्तामरिए के ग्रन्थ' नामक निबन्ध। (१३) दे० ठा० शिवसिंह सेंगर-कृत वही 'शिवसिंह सरोज पृष्ठ ८१। (१४) दे० इसी निबन्ध में उद्धृत डॉ० महेन्द्र कुमार का कथन। (१५) दे० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र कृत भूषण के पृष्ठ ६६ तथा ६६ पर उद्धृत मतिराम और भूषण के

वय (१६) दे० पृष्ठ १०० (१७) दे० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र कृत उसी 'भूषण' के पृ० उद्धृत

'द्विज कन्नौज कुल कश्यप रतनाकर सुत धीर ।
बसत त्रिविक्रमपुर सदा तरनि तनूजा तीर ।। (शिवराज भूषण)

तथा—'द्विज कनौज कुल कश्यपी रतिनाथ को कुमार ।
बसत त्रिविक्रमपुर सदा जमुना कंठ सुठार ।।

(शिवराज भूषण की संवत् १८१८ वाली प्रति से

दे० प० कृष्ण बिहारी मिश्र कृत वही 'मतिराम ग्रन्थावली भूमिका' पृष्ठ २१८

दे० 'चिंतामणि के ग्रन्थ' नामक निबन्ध ।

देखिये—तिरपाठी बनपुर बसैं बत्स गोत्र सुनि गेह ।
बिबुध चक्रमणि पुत्र तह गिरिधर-गिरिधर देह ।
भूमिदेव बलभद्र हुग्र-तिनहि तनुज मुनि गान ।
मण्डित पण्डित, मण्डली मन्डन महा महान ।
तिनके तनय उदार मति विश्वनाथ हुव नाम ।
दुतिधर श्रुतिधर को अनुज सकल गुननि को धाम ।
तासु पुत्र मतिराम कवि——— (वृत्त कौमुदी)

(दे० डॉ० महेन्द्र कुमार कृत 'मतिराम कवि और आचार्य' सन् १९६० का संस्करण २८ पर उद्धृत ।)

(२१) दे० 'माधुरी' (वर्ष २ खंड २ संख्या ६) पृष्ठ ७३६ ।

(२२) देखिए— द्विज कनौज कुल कस्यपी रत्नाकर सुतधीर ।
बसत त्रिवक्रमपुर सदा तरनि तनूजा तीर ।। (शिवराजभूषण)
(पं०) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र-कृत उसी 'भूषण' के पृष्ठ ९६ पर उद्धृत)

(२३) दे० वही 'माधुरी' पृष्ठ ७३६ ।

(२४) देखिए—
भूषण चिन्तामणि तहाँ कवि भूषण मतिराम ।
नृप हमीर सनमान तें कीन्हें निज-निज धाम ।।
(रसचन्द्रिका)

(प ०) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के उसी 'भूषण' के पृष्ठ ९८ पर उद्धृत)

(२५) दे० 'माधुरी' (वर्ष २, खंड २, संख्या ६) पृष्ठ ७३६ ।

(२६) दे० पं० कृष्ण बिहारी मिश्र कृत 'मतिराम ग्रन्थावली' भूमिका तृतीय संस्करण पृष्ठ २२२-२२३ ।

(२७) दे० नृप हमीर सनमान तें कीन्ह निज-निज धाम ।।—(रसचन्द्रिका)

लाल कवि कृत विष्णुविलास — ग्रंथ का रचनाकाल

उदयशंकर दुबे

छत्रप्रकाश जैसे साहित्यिक एवं ऐतिहासिक ग्रंथ के प्रणेता गोरेलाल पुरोहित उपनाम लाल कवि का दूसरा प्रसिद्ध ग्रंथ विष्णुविलास है। लाल कवि के इन दोनों ग्रंथों का रचनाकाल ज्ञात नहीं है। इसका कारण यह है कि कवि ने अपने ग्रन्थ द्वय में न तो रचनाकाल दिया और न ही कवि का प्रामाणिक जीवन वृत्त ज्ञात है। कविमणि पं० कृष्णदास ने लाल कवि का जन्म संवत् १७०७ वि० माना है।[1] श्री गोरेलाल तिवारी कवि के जन्म समय के सम्बन्ध में लिखते हैं कि "इनका जन्मकाल विक्रमीसंवत् १७१४ के लगभग हुआ था।"[2] इससे आगे बढ़कर डॉ० किशोरीलाल गुप्त ने लाल कवि का जन्म संवत् निर्धारित करते हुये लिखा है कि "लाल कवि (गोरेलाल पुरोहित) का जन्म संवत् १७२५ में हुआ था। उन्होने १७६४ में छत्र प्रकाश की रचना की थी। ग्रियर्सन में दिया हुआ समय अशुद्ध है।"[3] यहाँ पर श्री गुप्त ने ग्रियर्सन द्वारा मान्य संवत् को अशुद्ध तो बताया किन्तु उन्होंने किस आधार पर कवि का जन्म-काल निश्चत किया इसका उल्लेख नहीं किया है।

'छात्र प्रकाश' ग्रन्थ में रचना काल का निर्देश नहीं हुआ है।[4] प्राप्त छत्रप्रकाश की प्रतियों में महाराज छत्रसाल के जन्म से लेकर संवत् १७६८ वि० तक की घटनाओं का वर्णन मिलता है।[5] लोहागढ़ का युद्ध इसी समय हुआ था।[6] इस युद्ध का विवरण छत्रप्रकाश मे है। इससे मात्र इतना निष्कर्ष निकलता है कि संवत् १७६८ वि० में लाल कवि वर्तमान थे। छत्रप्रकाश का रचनाकाल इससे ज्ञात नहीं होता है।

"हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास" में लाल कविकृत विष्णु विलास ग्रन्थ का रचनाकाल एक स्थान पर संवत् १८५० वि० तथा पुनः उसी इतिहास में अन्यत्र संवत् १८६० वि० लिखा हुआ है।[7] इतिहास में दिया हुआ समय रचनाकाल न होकर प्रति का लिपिकाल है जो मूल से मान लिया गया है इस प्रकार हम देखते हैं कि लाल कवि का

जन्म समय और विष्णुविलास ग्रन्थ का निर्माणकाल अनिश्चित है और विद्वान इस विषय पर एकमत नहीं हैं।

'विष्णुविलास' ग्रन्थ की एक नवोपलब्ध हस्तलिखित प्रति[८] से ज्ञात होता है कि संवत् १७१७ वि० में या उसके पूर्व किसी समय इस ग्रन्थ की रचना हो चुकी थी। रचनाकाल के सम्बन्ध में विचार करने के पूर्व प्रति का संक्षिप्त परिचय दे देना उचित होगा। प्रस्तुत प्रति में ५३ पत्र थे। जिसमें प्रथम पत्र नही है। अर्थात कुल ५२ पत्र हैं। प्रति हाथ के बने देशी कागज पर चमकीली स्याही से सुस्पष्ट अक्षरों में लिखी हुई है। प्रति का आकार ८७/१० × ४९/१० इंच है। प्रत्येक पृष्ठ पर सात पंक्तियाँ हैं। ग्रन्थ की अनुष्टुप् छंद संख्या ६६३ है। प्रति की पुष्पिका इस प्रकार है – "इति विष्णु विलासे लाल विरचिते विष्णु विलास कथा समाप्तः शुभमस्तु सर्वं जगतः संवत् १७१७ भाद्र कृष्ण द्वादश्यां लिखितं लालाख्येत ॥"[९] (द्रष्टव्य-विष्णुविलास ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति के अन्तिम मूल दो पृष्ठों की अलग से संलग्न यथादर्श प्रति।) नागरी प्रचारणी सभा काशी की सन् ३९२३ ई० की खोज विवरणिका में विष्णुविलास ग्रन्थ का विवरण दिया हुआ है, किन्तु रचनाकाल नहीं बताया गया है।[१०] विष्णुविलास ग्रन्थ का रचनाकाल यदि वास्तव में संवत् १७१७ वि० या उसके कुछ पूर्व है जैसा कि उल्लिखित प्रति की पुष्पिका से सिद्ध होता है तो इस आधार पर लाल कवि का जन्म-समय प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना के पूर्व होना चाहिए। यदि हम संवत् १७१७ वि० को ही ग्रंथ का निर्माणकाल स्वीकार कर लें और इस समय तक कवि की अनुमानित आयु २५ वर्ष, तो लाल कवि का जन्म-काल संवत् १६९२ वि० स्थिर होता है। 'विष्णुविलास' जैसे शृङ्गारपूर्ण नायिका भेद का ग्रंथ २५ या ३० वर्ष की आयु में लिखना कोई कठिन कार्य नही है। कवि के आश्रयदाता महाराजा छत्रसाल का जन्म ज्येष्ठ शुक्ल तीज संवत् १७०५ विक्रमीय विलंबि नामक संवत्सर में हुआ था।[११] अतः लाल कवि अपने आश्रयदाता से आयु में बड़े हो जाते हैं और यह बात असम्भव नहीं जान पड़ती क्योंकि छत्रप्रकाश के प्रारम्भिक अंशों को पढ़ने से ऐसा आभास होता है कि लाल कवि छत्रसाल को बाल्यावस्था को अपनी आँखों से देख रहे होंगे। उदाहरणार्थ – छत्रसाल के अन्नप्राशन संस्कार के अवसर पर कवि कहता है—

"ता दिन कविन कवित्त बनाये।
दिये दान तिनकों मन भाये॥"[१२]

सात वर्ष की अवस्था प्राप्त करते ही छत्रसाल की प्रवृत्ति भक्ति की ओर उन्मुख हो उठती है। कवि उसका वर्णन करते हुए लिखता है—

"जबहीं बरस सातई लागी।
अद्भुत बुद्धि भगति रस पागी॥"[१३]

ऐसे बहुत से प्रसंग छत्रप्रकाश में मिलते हैं जिनसे यही धारणा बनती है कि लाल कवि अपनें आश्रयदाता से आयु में अवश्य ही श्रेष्ठ रहे होंगे।

कविमणि पं० कृष्णदास ने अपने ग्रन्थ 'बुन्देलखण्ड के कवि (पूर्वार्द्ध)' में लाल कवि का सम्पूर्ण जीवन-चरित्र प्रस्तुत करने का अच्छा प्रयास किया है लाल कवि के जीवन-वृत्त

के सम्बन्ध में अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने छत्रसाल द्वारा लाल कवि को प्रदान की एई दो सनदों का हवाला दिया है, जिनमें प्रथम संवत् १७६६ वि० की तथा दूसरी संवत् १७८० वि० की है।[१४] साथ ही उन्होंने लाल कवि के अंतिम समय का वर्णन करते हुए लिखा है कि "लाल कवि का निधन पन्ना के अंतिम युद्ध में पाया जाता है। यह अंतिम युद्ध हृदयशाह से संवत् १७८२ वि० में हुआ था।"[१५] महाराज छत्रसाल से लाल कवि को पहली सनद सवत् १७६६ वि० में प्राप्त हुई थी। पुन: संवत् १७८० वि० में दूसरी सनद द्वारा प्रथम की पुष्टि की गई। इससे सिद्ध है कि १७८० वि० तक लाल कवि वर्तमान थे और पं० कृष्णदास द्वारा उल्लिखित कवि का निधन काल प्रामाणिक लगता है। यहाँ प्रश्न उठना स्वभाविक है कि जब संवत् १७८२ वि० तक लाल कवि जीवित थे तो उन्होंने अपने छत्रप्रकाश ग्रन्थ में संवत् १७६६ वि० तक की घटनाओं का ही वर्णन क्यों किया? इसका उत्तर यह है कि वर्तमान प्राप्त छत्रप्रकाश अधूरा है। वह पूर्वार्द्ध जैसा लगता है। इसकी पुष्टि संवत् १७६६ वि० की सनद से हो जाती है जिसमें लिखा है कि"... ...जब ग्रन्थ की पूर्ति होगी तब बहुत से खयाल करो जै है अबै बरोबरी की बैठक बकस जात है।"[१६] अर्थात् १७६६ वि० में जब कवि अपना ग्रन्थ लेकर राजदरबार में उपस्थित हुआ इस समय ग्रन्थ (छत्रप्रकाश) अधूरा था। संवत् १७८० वि० में ग्रन्थ पूर्ण हुआ जबकि प्रथम सनद की पुष्टि की गई। यहाँ ध्यान देने योग्य है कि पहली सनद में ग्रन्थ के अधूरे होने की चर्चा है किन्तु दूसरी सनद में मात्र ग्रन्थ का नामोल्लेख हुआ है।[१७] अत: प्राप्त छत्रप्रकाश अवश्य ही अधूरा है और हम इसको पूर्वार्द्ध कह सकते हैं। यद्यपि अभी तक छत्रप्रकाश का उत्तरार्द्ध प्राप्त नहीं हुआ है। निश्चित ही कवि ने अपने ग्रन्थान्त में अपने आश्रयदाता के अंतिम जीवन मे (संवत् १७६६ से लेकर संवत् १७८० वि० तक की घटनाओं का) घटित घटनाओं का वर्णन किया होगा। महाराज छत्रसाल की मृत्यु संवत् १७८८ में जेठ बदी ३ बुधवार ता० १२ मई सन् १७३१ को हुई थी।[१८] इसके पूर्व ही संवत् १७८० वि० में छत्रसाल ने प्रसन्न होकर लाल कवि को दूसरी सनद प्रदान की। सनद प्राप्ति के दो वर्ष पश्चात् कवि का प्राणांत हो गया जैसा कि पं० कृष्णदास ने स्वीकार किया है।

लालकवि का जन्म-संवत् प्राप्त विष्णु विलास ग्रन्थ की रचना के रचना-काल को स्वीकार कर लेने पर अनुमानत: १६९२ वि० स्थिर होता है—यदि संवत् १७२७ वि० तक कवि की अवस्था २५ वर्ष मान ली जाय – संभव है वह और अधिक अवस्था का रहा हो। संवत् १७१७ वि० में या उसके आस-पास कवि ने विष्णुविलास कथा को लिखा। इसके पश्चात् वे छत्रसाल के निकट संपर्क में आये और अंतिम काल तक उनके दरबार की शोभा बढ़ाते रहे।

विष्णु विलास ग्रन्थ का विषय—

लाल कवि रीति युग के प्रथम चरण के थे। अत: इस काल की प्रवृत्ति शृङ्गार से वे अलग न हो सके और लक्षण-उदाहरणों से युक्त नायिका भेद विषयक अपना विष्णुविलास ग्रन्थ लिखा मिश्रबन्धुओं ने इस काव्य-ग्रन्थ के संबंध में लिखा है कि इनका (लाल कवि

॥ ग्रन्थ विष्णु विलास है, जिसमें बरवै छन्दों द्वारा कविता की गई है। इसमे
. का वर्णन है और कविता साधारण है।''[१९] आचार्य पं॰ रामचन्द्र शुक्ल का भी
र है'' लाल कवि का एक और ग्रन्थ विष्णु विलास है, जिसमें बरवै छंद में नायिका
ाया हैं।'' [२०] विष्णु विलास ग्रन्थ का विषय नायिका भेद है। यह ग्रन्थ विविध
ःखा हुआ है। परिच्छेदानुसार विषय विभाजन का क्रम निम्न प्रकार है -

—अनुक्रमणिका परिच्छेद।

—नायक लक्षण परिच्छेद—नायक लक्षण—धीरोदात्त, धीर प्रशान्त, धीर ललित तथा धीरोद्धत—चारों प्रकार के नायकों का चार प्रकार वर्णन पुनः १६ प्रकार के नायकों का वर्णन और उनके तीन-तीन प्रकार—यथा—उत्तम, मध्यम और अधम।

—नायिका लक्षण परिच्छेद—इस परिच्छेद को कवि ने कई छोटे-छोटे उप परिच्छेदो में विभाजित किया है—

(अ) स्वकीया लक्षण परिच्छेद—स्वकीया—मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा, वयो मुग्धा, मनसिज मुग्धा, रतिवामा, मृदुक्रोधा, उद्धत योवना, आरूढ़ योवना, उद्भूतमनोभवा, चित्र सुरता, परिहास विशारदा, मोहरिता पुनः धीरा, अधीरा, मध्यमा नायिकाओं के लक्षण। इसके पश्चात् योवन अंधा, काममदमत्ता, रतिपंडिता, आक्रमित कांता, धृष्टसुरता, अद्भुतविभ्रमा, सादरा आदि नायिकाओ के लक्षण और उदाहरण।

(ब) परकीया लक्षण परिच्छेद—परकीया लक्षण, मुग्धा, उद्धतकामा आदि नायिकाओं के लक्षण के अतिरिक्त चित्र-दर्शन, स्वप्न-दर्शन, परिछाही-दर्शन, माया दर्शन, बंदित श्रवण, सखी से सम्पर्क आदि का वर्णन।

(स) रूढ़ा नायिका लक्षण परिच्छेद—रूढ़ा नायिका लक्षण, गम्या, अगम्या, परिजनरुद्धा, अनुरागिणी, दुष्टवेष्टिता, लोकभीरु, चंचलमना, सुखमिला, द्रुमिला, दुर्विदग्धबधू, रोगी वधू, वृद्ध वधू, बाल वधू, ग्रामीण नायिका (बधू), अतिकामवती आदि नायिकाओं का लक्षण और उदाहरण।

—गणिका नायिका परिच्छेद—गणिका नायिका का लक्षण, गणिका का रूप कथन, संभोग-सुख आदि। गणिका नायिकाओं का वर्णन मात्र ८ छंदों मे है और इस संक्षिप्त वर्णन का कारण कवि के शब्दों में निम्न है—

> "यद्यपि अवगुण सबै कवि के कहत न लाज।
> तदपि न वर्णों संत जिम्र ताको कछू न काज॥"

—अष्ट नायिका परिच्छेद—स्वाधीन पतिका, शोभागर्विता, आसन पतिका, आधीनपतिका, प्रेमगर्विता, उत्कंठिता, वासकसज्जा, अभिसंधिता, खंडिता, अभिसारिका आदि नायिकाओं के लक्षण एवं उदाहरण। पुनः निज स्त्री लक्षण, पर स्त्री लक्षण तथा अभिसार गणिका लक्षण और अभिसार

प्रस्वात विप्रलब्धा लक्षण और उदाहरण अन्त में उत्तम मध्यम और अधम नायिकाओं का लक्षण वर्णन ।

६—भावअनुभावविभाव रस लक्षण परिच्छेद—रति, हास, शोक, क्रोध, भय, जुगुप्सा, विस्मय, स्वेद, थभ, रोमांच, स्वरभंग, कंप, वैवर्ण्य, अश्रु, प्रलाप, निद्रा, ग्लानि, बिव्बोक, श्रम, धृति, जड़ता, मद, संका, चिंता, मोह, आलस्य, अमर्ष, अपस्मार, दीनता आदि का लक्षण पुनः नवों रसों का नाम, लक्षण सहित उदाहरण। इस परिच्छेद को भी ने अलग-अलग विभाजित किया है, यथा शृंगार परिच्छेद करुण रस परिच्छेद आदि ।

विष्णु विलास ग्रन्थ के अप्रकाशित होने के कारण ही अभी तक लोग लालकवि को वीर रस का ही कवि मानते थे। लालकवि का प्रस्तुत ग्रन्थ रीतिकालीन प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करता है। रीतियुग के प्रारंभिक चरण की रचना होने के कारण इस ग्रन्थ का विशेष मूल्य हो जाता है। इसमें दोहा, वरवा, सवैया तथा झूलना छन्द का प्रयोग हुआ है। कवि ने लक्षण बरवै या दोहे में दिया है और उदाहरण सवैये छन्द में प्रस्तुत किया है। कहीं-कहीं दोहे में ही लक्षण और उदाहरण एक साथ हैं। भाषा ब्रज होते हुए उसपर बुन्देली का प्रभाव है। बुन्देल खण्डी लोकप्रचलित शब्दों और मुहावीरों का यत्र-तत्र प्रयोग देखा जा सकता है। कवि ने रीतिकालीन पूर्व कवियो का अनुसरण किया है और इसमें वह सफल हुआ है। "विष्णुविलास" के कुछ छंद प्रस्तुत हैं—

मनसिज मुग्धा नायिका उदाहरण—

कान दयो रति काम कुतूहल बातनि में तन भूषण भायो।
सारस ते अति आरस लोचन चारु हसी मुखचंद्र लजायो ॥
वारिहि वैस कियो वसि वल्लभु ते गुण चोरटि चेटिकु लायो।
वीर कि सो सखि थोरेहि द्योस मो दौरि कि तोहि सयानपु आयो ॥

मोहतारिता नायिका उदाहरण—

छूटि ललाट ते बेदि विराजै कपोलनि मै श्रम सीकर सोहै।
सालस अंग सबै अधमूदे उनीदे है नैननि अम्बर जोहै।
लाज ते जोरि रही जुग जंघ भुजा उर झंवि लिखी सी मनो है ॥
आपन हूं करि मोहन मोहि है मोहेहु मोहन को मनु मोहै ॥

आक्रमित कांता नायिका उदाहरण—

दै जावक नष सिषर शुद्ध सुरि सरि मह कीन्हो।
नयन अनल कर सेकि बहुरि कज्जल चषु दीन्हो ॥
पुनि कज्जल कंठहि पोछि पिय के कर कौरौ।
पुलकित पिअ के अंग मुकुर मीजति हसि गौरी ।

लक्षण—

सावहित्थ सो जानिबी निरषि जु वल्लभु दोस।
कै छल कछू जु आपनो पिअहि लगावै रोस॥

पावक दाग लिलार लग्यो उपरयो गडिकै उर कंठ मै नीको।
काजर लीक रदछद में छवि छाजत लोचन कै पुट पी को॥
भोरहि रूप निहारि मुरारि को संग विचारि हिए पर ती को।
सास तिजी गहि नासिका नीर ज्यों भामिनि भावहुराइ को जी को॥

नायिका उदाहरण—

भौन भरे सभ लोग है वा कि अकेलि बोलावत होति षई।
सासु रिसाइ उठै मोहि देषे भुके ननदी मन दीन भई॥
दीजिए दीठि न ठाहर अइसी हसाइहो काहु सो मोहि दई।
अहो जैहो न फेरि बलाइ लो कान्हर वारक मैं जु गई सु गई॥

उदाहरण—

सेठि की सों एह मेटि पगारति जात छिडाइ कहा संग धावो।
देषत मोहि जो भौन ते भागत वोइ लजाइ न होहि लजावो॥
फूटिहै आषि सषी तिन्हकी जिन्ह षोज्यो इहै वर बाभन नावो।
केलि की बात कहा कहौ बावरि बातन हूँ न कह्वा सच पावो॥

सभोग सुख यथा—

आहट ऊहि करै सिसिकार परावही छाडु कहै षिन ताती।
चुंबति चारु कपोल पिआमुख है अति ढीठ कछू न लजाती॥
प्रति अंग नए नखरे कै रिझावै हंसावै सुहांति सुभाती।
विभ्रम भावभरी वहु भामिनि केलि कला गणिका मदमाती॥

नायिका लक्षण—

आयो आधीन जासु पिअ उत्कंठिता सु होइ।
अन आए ताके करै चिंता व्याकुल सोइ॥

कै पिय पेम परे परनारि के कै कछु आतुर काम ठयोरी।
कै कछु दोष न है हमसौ किधौ काहु इहा उदबेगु दयोरी॥
कारन कौन जु आए न लालन जाते सह्यो यह दुःख नयोरी।
सोचत ही निसि नीद गई जुग सो जग यामिनि जाय भयोरी

ज्जा नायिका लक्षण

करि मंजन रचि वास प्रिय आगम विचारि।
द्वार विलोकत लोल दस वासकसज्जा नारि॥

आवन यानि यदुप्पति को प्रति अंग विभूषण भामिनि कीन्हो
पूछत वारहि वार सखी कब आइहे कान्ह महा सुख लीन्हो
कोउ कहे कहु जाइ हला हसि के हरि सौ तुम्ह आजु मै चीन्हो
हेरत हारि परी मगु मे अब आइहो कान्हु ओराहनो दीन्हो

तिका लक्षण

गयो कोनहू काज ते याको पिय परदेश।
पोषित पतिका सो कही ता बिनु दुःखित भेस॥

आए न कंत वसन्त समै हु मनो परदेस को नेमु है लीन्हो।
फूली लता चितयो चहु औरय केसर जाल मनो भल कीन्हो।
राषति हौ कुलकानि सहै सब जानो न योवन को रसु चीन्हो।
आलि कहा कहौ और दसा इन्ह चैत कि चादनि ही दुष दीन्हो।

स

भूषण आदि विभाव जाको थाइ..................१।
रति स्मृत आदिक अनुभाव सो कहिए शृंगार॥

दि विभाव नाम

वर भूषण उज्जल वसन पावस रितु मधुमास।
दामिनि दशन ओ पिक वचन ओ मयूर कोल्लास॥
सौंध मनोहर वरस घन दीपक चन्दन चन्द।
कुसुम लता भर मधुप धुनि घन रव मारुत मन्द॥
रुचिर दम्पति रुचि कथा राग मनोहर गांन।
नागवेलि उपवन गवन धूप गन्ध मधु पान॥
इत्यादिक रतिभाव के सबै करै अभिराम।
भय हेतु शृङ्गार के तौ उद्दीपन नाम॥

दिक अनुभावो यथा

घृत परमादर मधु वचन सुन्दर अङ्ग विकार।
नैन वैन परगास ते जानहु रस शृङ्गार

अथ विशेष

कह्यो जो प्रथम शृङ्गार सो चारि भाति परधातु।
विप्रलंभ संयोग फुनि मिश्रकओ रस मान॥

अथ विप्रलंभ :

जहा न दम्पति को मिलन विप्रलंभ तिहि नाम।
पूरवगाहिअ आदि दै चारि भांति अभिराम॥
एक पूर्वानुराग दूजो है फुनि मानु।
सो प्रवास है तीसरो करुण चौथो जानु॥

पूर्वानुराग लक्षण

दम्पति दरशन श्रवण ते मन जु मनोरथ जाग।
वेठि उत्कंठा मिलन को सो पूर्वानुराग॥

दृष्टांत

आलि अचानक कालि मिले वनमाली सुने हुते देषन केहूँ।
देषत हो सुधि शेषभई अनिमेष भई हरि हेरत हौहूँ।
हौ न सकोचनि जौन ते जोरि हौं भौन गई झुकि साथ की कोहूँ।
लाल गए रवि लाल भऐ न चले लगि लाल विलोचन चौहूँ॥

श्रवण

आलि न हौंती संग जौ अरु गुर जन की लाज।
बाते सुनती स्याम की सदा सबै तजि काज॥

इति पूर्वानुराग

विप्रलंभ शृङ्गार में दंपति हिए न शांति।
उपजे अति अनुरागते काम दशा दश भांति॥

अथ दश नाम

लालस चिंता स्मरण गुणकथन उद्वेग प्रलाप।
तौ उन्माद व्याधि फुनि जडता मरण संताप॥

अथ लालस लक्षण

संगम कारण दंपति अति अवसा जु होइ।
संकल्प कुल हृदय जो लालस कहिए सोइ॥

अथ चिन्ता

कैसे कै पिय जन मिलै कैसे कै वस होइ।
कैसे करै संतोष हिअ चिंता कहिए सोइ॥

अथ स्मर

कछू काज न सोहाइ जडता हिय में होइ।
स्वास मनोरथ आदि जह सुमिरण कहिए सोइ॥

अथ गुण कथन

सुंदरता आलाप गुण ता सम आप न आहि।
इहि विधि बानी होइ जह गुणकथन कहिए ताहि॥

उद्वेगो यथा

जहा न रम्म आराम ते काहू को सुख होइ।
जीयति में बिरुचि अति जह उद्वेग सु होइ॥

प्रलाप लक्षण

अति उत्कंठा तै फिरै मन न करै बिश्राम।
वचन प्रिया शृङ्गार जह तह प्रलाप है नाम।

अथ उन्माद

स्वास कंप वसुधा लिखन रोदन और विषाद।
ए सब जा यह देपिग्रइ सो कहिए उन्माद॥

अथ व्याधि

जह वेदन संताप ते दीरघ स्वास समीर।
व्याधि माष सो जानिबो करै जो छिन्न सरीर॥

अथ जडता

सो जडता जह छिन्नता स्वासा बारम्बार।
सुधि न कछू अरु दृष्टि थिर विनुकारण हुंकार॥
नयो दशा एहि वरणि अहि जानन को अनुराग।
कबहूं न मरण वरणिए रसाभास जेहि लाग॥
कोउ वरणति मरणति फेरि जिआवन हेत।
सेउ नीको बिदित जो कलपि न कहै सचेत॥
एक मुए दूसरो जिग्रइ जी विधि है संजोग।
कहा नेह गणना तहा हसै भलै पै लोग॥

इति पूर्वानुराग दशा अथ मान:

प्रणय ईरषा हेतु ते द्विविध जु वरणो नाम।
प्रणय सो जानिबो जह दम्पति कोप समान॥

स्त्री मानो यथा

मान्यो मणायो हमारोण आलि मिली पुनि आपुन ही रतिआं।
भनि लाल दुरावति है कहि काहे को मेरे तो चातुरई मतिआ॥
फेरि सिगार कियो तो कहा भयो छाडिरी पाखंड की बतिआ।
अहो जान्यो मे मान विलोकत ही नख रेख नखक्षत की छतिआ॥

नो यथा

उद्दीपन तै होइ लघु अति जो मानिनि मान।
लघु ओ दीरघ होइ फुनि लषि इतिहि तिहि ठान ॥

ह्योपि लघुर्यथा :

हारि परी हम हा हरि कै हठ छाड्यो नहीं तुम्ह मानु जो कीन्हो।
सोह देवाइ बुलाइ रही फिरि पाइ परै हु न उत्तरु दीन्हो ॥
नेक न अंग रजे घन के हरि आपुन ही भरि अंकम लीन्हो।
बीर कि सो हंसिबे को भलो भयो आजु तिहारो सयानपु कीन्हो ॥

नि लघुरपिदीर्घो यथा

आइ कही इत और कछू उत जाइके दोस हमारोइ दीन्हो।
यारो कुचारि मुरारि सों यो चित तहा जो जहा जु परामसु कीन्हो ॥
भनि लाल सिधारिअ कीन्ही भली तुम मोहन आपुन आपुन लीन्हो।
हो पाय परो गहि इसी दुहू कर ए सब फैल तिहारो मै चीन्हो ॥

र मोचन प्रकार:

मानिनि मानहि हरष को करै पुरुष छ उपाउ।
साम दाम अरु भेद नति मौन सन्त रस भाउ ॥

मादि लक्षण:

साम ते कहिए प्रिय वचन भूषण छल ते दानु।
बसीकरण सखि द्वार ते भेद नाम सो जानु ॥
चरण पाति नति जानिकी मौन अपत्ता होइ।
कोप हरण रभ सादि ते कह्यो सन्त रस सोइ ॥
नायक पाची पाय ते हरै मानिनी मानु।
होइ हानि शृङ्गार की ताते भेद न दानु ॥
मानिनि को न मनावइ अधम जो कहिए ताहि।
नीरस औ बिनु पेम को जीवन मृतक सो आहि ॥
विनु सनेह न होइ भय विनु ईर्ष्या न काम।
प्रीति बढावन दुहुन को मान होइ अभिराम ॥
निष्ठुर वचन विदेश चिर अप्रिय कृति अरु क्रोध।
अरु छाडिबौ विपत्ति में गुण जौ गुण अनुबोध ॥
बहुत लोम इत्यादि सभ पिअ के दोष विचारि।
विध करी आपुहरी गणै विअहि करै रिपु नारि ॥
कामिनि औ कोपहि करै थोरेउ आदर हेत।
बहुत कोप ते विरह हौं विरुचि होइ पिअ चैत।

इति चतुर्विध विप्रलम परिछेद

अथ संयोग रस शृङ्गार लक्षण :

मिलन जहा तिम्र पुरुष को तिहि संयोग है नाम।
सोऊ फुनि दू भांति है प्रगट गुप्त अभिराम ॥

प्रगटो यथा

कूकति है कल कोकिल ज्यो इत्यादि

गुप्तो यथा

तुरित दयो कुच कुंभ में नख छल करि पीय।
मानति है तेहि मह दक्षिण नायक तीग्र ॥
विप्रलंभ संयोग फुनि दुहू एक ही वार।
मिश्रत ए जह वरणिऐ सो मिश्रक शृङ्गार ॥
सती चरित असती चरित रितु समीर आराम।
इत्यादिक सभ वरणिए है मिश्रक अभिराम ॥

सती चरित यथा :

ताहि सिम्रो सिष लेइ जो तेरि इत्यादि

असती चरित यथा :

तीनिरि को न की भूमि इत्यादि

रितु वर्णन यथा :

चंड अखंड तपै रवि मंडल दाह कि थाह न जाति सही।
लागति बात सहै नहि गात मनो विप सांस तजै न मही ॥
मंजन चंदन शीतल भौन हु भनिमि भोग कथा निबही।
जह ग्रीषम भाति भयो सु मनो जरि जात चहंत मही ॥

अथ पवन :

सेद सलिल के संग ही सुरत षेद हरि लेइ।
दंपति के परिरंभ मे पवन महा सुख देइ ॥

आराम वर्णन यथा :

नंदन हू ते अधिक यह वृन्दावन इमि-जानि।
निज संकेत विनोद कह कीन्हो सारंग पानि ॥

अथ सामान्य शृङ्गार :

जहां संयोग वियोग फुनि दंपति गुण अभिराम।
यो रस लक्षण वर्णियहि ताहि समान है नाम।

भाव हाव सवेत अरु दपति लक्षण जाति
जा मह ए सब वरणिए एहि काम श्रुति दिन राति ॥

इति सामान्य शृङ्गार

इति श्री लाल विरचिते विष्णु विलासे चतुर्विध शृङ्गार
रस लक्षण परिच्छेद :

सन्दर्भ-संकेत

(१) बुन्देलखण्ड के कवि (पूर्वार्द्ध), पृ० ८६ ले० कविमणि पं० कृष्णदास साहित्य सम्मेलन, पन्ना-म० प्र० (२) बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास—पृ० २२५, गोरेलाल तिवारी—ना० प्र० सभा—काशी। (३) सरोज सर्वेक्षण, सर्वेक्षण सं० ८००, डा० किशोरी लाल गुप्त। (४) द्रष्टव्य-खोज विवरणिका सन् १९०६ ई०, पृ० ३१, ना० प्र० सभा काशी। (५) द्रष्टव्य-छत्रप्रकास अंतिम अंश, सं० डा० श्याम सुन्दर दास, ना० प्र० सभा काशी। (६) बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास—पृ० २०६ गोरे लाल तिवारी। (७) हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास-षष्ठ भाग—पृ० १७८, ३८७ तथा ४२८, सं० डा० नगेन्द्र, ना० प्र० सभा-काशी। (८) प्रस्तुत प्रति लेखक के संग्रह में है। लेखक को यह प्रति खमरिया जिला मिर्जापुर निवासी श्री पं० राम कृष्ण मिश्र से प्राप्त हुई थी। उनके पूर्वज साहित्य प्रेमी थे और पुराने समय में बुन्देलखंड की रियासतों में भागवत की कथा बांचने जाते थे। (९) विष्णु विलास की हस्तलिखित प्रति-पत्र सं० ५२ तथा ५३। (१०) खो विवरणिका सन् १९२३ ई० द्वितीय भाग-पृ० ९६१-६२, ना० प्र० सभा-काशी। (११) बुन्देलखंड का संक्षिप्त इतिहास—पृ० १६३, गोरे लाल तिवारी। (१२) छत्र-प्रकाश पृ० २४, ना०प्र० सभा-काशी, सन् १९१६ ई०। (१३) वही पृ० (१४) २५ बुन्देलखंड के कवि (पूर्वार्द्ध) पृ० ९०-९१, ले० कविमणि प० कृष्ण दास। (१५) वही पृ० ८९। (१६) द्रष्टव्य-पं० कृष्ण दास द्वारा प्रस्तुत सनद की नकल, पृ० ९१। (१७) वही दूसरी सनद पृ० ९०। (१८) बुन्देलखंड का संक्षिप्त इतिहास—पृ० २३१ गोरे लाल तिवारी। (१९) मिश्रबन्धु विनोद, द्वितीय भाग, पृ० ५९२। (२०) हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृ० ३३४।

आरंभिक मध्यकालीन धर्म-दर्शन : वर्णरत्नाकर का साक्ष्य

•

डॉ० भुवनेश्वर प्रसाद गुरुमैता

आरंभिक मध्यकालीन संस्कृति के अध्ययन की दृष्टि से ज्योतिरीश्वर विरचित वर्ण-रत्नाकर[1] का अध्ययन अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। यह मैथिली के अब तक प्राप्त ग्रन्थों में सबसे पुराना है। इसकी रचना चौदहवीं शता० ई० के प्रथम चरण में हुई थी। इसके प्रणेता थे—ज्योतिरीश्वर ठाकुर। वह संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। तथापि, लोकभाषा मैथिली में अपने महान् कविशिक्षाविषयक ग्रन्थ का प्रणयन कर उन्होंने उत्तर भारतीय कवियों का मार्गदर्शन किया। ग्रन्थरचना का मूल उद्देश्य था कवियों को वर्णन करने में सहायता पहुँचाना। प्राचीन भारत में कविशिक्षा-प्रणाली की एक निश्चित परम्परा के अनुसार कवि को देश, काल और शास्त्र का ज्ञान आवश्यक था। सर्वप्रथम दण्डी ने महाकाव्य में वर्णनों का समावेश किया। तदनन्तर भामह, रुद्रट, हेमचन्द्र और विश्वनाथ आदि तक वर्ण्यविषयों की सूची शनैः शनैः बढ़ती गई। भोजकृत 'युक्तिकल्पतरु'; सोमेश्वरकृत 'मानसोल्लास' (११२८ ई०), राजशेखर कृत 'काव्यमीमांसा' केशव कृत 'कविप्रिया' अमरचन्द यति कृत 'काव्यकल्पलता', सूदन रचित 'सुजानचरित्र' इसी प्रकार के ग्रन्थ हैं। इनमें वर्णक-सामग्री के अक्षय भण्डार हैं। उसी प्रकार वर्णक समुच्चय, सभाशृङ्गार, पृथ्वी चंद्रचरित्र आदि उल्लेखनीय हैं। लेकिन मौलिक सामग्री की दृष्टि से वर्णरत्नाकर सबसे महत्वपूर्ण है। वस्तुत. मध्यकालीन साहित्य की सांस्कृतिक सामग्री को समझने के लिए इसकी शब्दावली का मूल्यांकन अनिवार्य है। इस ग्रन्थ में समकालीन धार्मिक और सामाजिक जीवन का सर्वाङ्गीण चित्रण हुआ है।

धर्म और दर्शन की दृष्टि से वर्णरत्नाकर में वर्णित विविध देवी-देवता और साधना-प्रणालियों का सिंहावलोकन करने पर प्रतीत होता है कि उस काल (तेरहवीं-चौदहवीं शता० ई०) में वैदिक, शाक्त और शैव मतों का पूर्वोत्तर भारत में प्राबल्य था। बौद्धों का वह काल था

प्राचीन वैदिक धर्म में यज्ञ-यागादि की प्रधानता थी। इसमें पशु-हिंसा की प्रबलता होने पर बौद्ध धर्म को पनपने का अवसर आया। बौद्धों के अनुसार संसार अनित्य और दुःखमय है। उसका मूल कारण अविद्या है। आत्मा की उन्नति आत्मनिरोध के बिना नहीं हो सकती। काम और तृष्णा का विनाश कर निर्वाण पाना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। 'अहिंसा परमो धर्मः' इनका मूल मन्त्र है। शाक्यवंशी राजकुमार गौतम द्वारा प्रवर्तित इस धर्म को अशोक ने अपना राजधर्म मान लिया था। शिलालेखों पर उत्कीर्ण उनकी धर्म-लिपियाँ यह सिद्ध करती है। उसने अनेकानेक बौद्ध भिक्षुओं को इसके प्रचारार्थ जापान, कोरिया, मंचूरिया, चीन, बर्मा, स्याम और मंगोलिया आदि देशों में भेजा।

आगे चलकर बौद्ध भिक्षुओं में मतभेद उत्पन्न हो गया। चीन यात्री इत्सिंग के समय तक इसके अठारह भेद बन चुके थे। हमारे आलोच्य काल के पूर्व ही बौद्ध धर्म का पतन हो चुका था। इसके कई कारण थे। इसमें सबसे प्रधान कारण था—वेद और ईश्वर के विषय में इसकी उदासीनता। वर्णाश्रम को न मानना भी दूसरा कारण था। यहाँ के राष्ट्र-धर्म से सम्बन्ध तोड़ना भी तीसरा कारण था। गुप्तकालीन सभ्यता के उदय के साथ ही वैदिक धर्म का पुनरुत्थान भी इसके मार्ग में अवरोधक बना। हिन्दू धर्म की उन्नति के फल-स्वरूप बौद्ध भिक्षुओं ने भी महायान सम्प्रदाय का प्रवर्तन कर इसकी कई विशेषताओं को ग्रहण कर लिया। उनमें भी बुद्ध मूर्तियों की उपासना चल पड़ी। विदेशी बौद्ध आक्रामकों को साथ देकर राष्ट्रद्रोहिता का परिचय देना, कुमारिल और शंकर के द्वारा इनका प्रतिकार, षट्दर्शनों का पुनर्जागरण, शैव, शाक्त एवं वैष्णव सम्प्रदायों का प्रसार और मुसलमानों के हिंसक आक्रमण का भी इन पर विनाशकारी प्रभाव पड़ा।

ज्योतिरीश्वर ने उदयन के दार्शनिक सिद्धान्तों की प्रशंसा और बुद्ध की निन्दा की है।[२] शंकर, कुमारिल, उदयन, रामानुज आदि ने धार्मिक विचारों का तर्क-सम्मत विवेचन कर बौद्धों को बड़ी क्षति पहुँचाई। शंकर ने बौद्धों की शून्यवादी परम्परा को अपनी ज्ञान-परक आलोचनाओं द्वारा उखाड़ फेंका और बौद्धिक वैदिक ज्ञान की धारा प्रवाहित की। इनके शिष्य कुमारिल ने वैदिक धर्म-दर्शन की कर्मपरक व्याख्या कर बौद्धों को पराजित करने मे बड़ा योनदान दिया। इस प्रकार हमारे आलोच्ययुग के बहुत पूर्व शंकर-अद्वैत और कुमारिल की पूर्व-मीमांसा पूर्णतया प्रतिष्ठित हो चुकी थी। हिन्दुओं ने बुद्ध को भी अपना नवाँ अवतार घोषित कर उदारता दिखाई थी। फलस्वरूप, बहुत बड़ी संख्या में बौद्ध लोग पुनः हिन्दू धर्म में प्रविष्ट हो गये। उनका अहिंसावाद थोथा नारा सिद्ध हो रहा था। क्योंकि, परकीयों से संघर्ष करते हुए युद्ध की अवहेलना नहीं की जा सकती थी। उनकी धन-लिप्सा और भोग-लिप्सा के कारण भी जनता का मन उचट चुका था। वैसे इनका पतन अन्तिम मौर्य सम्राट् बृहद्रथ के देहान्त और पुष्यमित्र के प्रादुर्भाव से हो चुका था। परन्तु गुप्तवंश और शंकर-कुमारिल के उत्थान से तो बौद्धों की संख्या नगण्य हो गई। रहे सहे बौद्धों ने शैव एवं शाक्त विचारों को लगभग ग्रहण कर लिया।

ज्योतिरीश्वर के लगभग १०० वर्ष पूर्व तक मिथिला और मगध में बौद्ध धर्म के जीवित रहने का प्रमाण मिल जाता है तिब्बती बौद्धयात्री धर्मस्वामिन् के मिथिला वैशाली

नालंदा और बौद्धगया सम्बन्धी भ्रमण-वृत्तान्त से पता चलता है कि बोधगया में हीनयानी थे और नैपाल की तराई में महायानी। दोनों में बड़ा विरोध था। लेकिन उस समय भी बौद्ध भिक्षुओं का बड़ा सम्मान था। स्वयं बोधगया के राजा ने हाथी से उतरकर धर्मस्वामिन् का सम्मान किया था।[3] नालन्दा में उस समय तक विद्वान् भिक्षु रहते थे, जिनके पास कुछ समय धर्मस्वामिन् ने अध्ययन किया। मिथिला के राजा ने तो उसे गुरु बनने के लिए भी बाध्य किया। इस प्रकार हिन्दू और बौद्धों में बहुत वैमनस्य नहीं था।[4] मगध, मिथिला और नेपाल में बौद्ध एवं शेष हिंदुओं में उसी प्रकार का सौहार्द्र का भाव था जैसा कुछ दिनों पूर्व पंजाब के केशधारी एवं गैर केशधारी हिन्दुओं में।

लेकिन उन दिनों मुसलमानों का आतंक बड़ा बढ़ा-चढ़ा था। धर्मस्वामिन् के उल्लेख के अनुसार बोधगया का राजा मुसलमानों के आक्रमण के भय से जंगल में भाग गया था। १२०१ ई० में बख्तियार खिल्जी ने नालन्दा का विध्वंस किया। कुछ समय बाद विक्रमशिला को भी विनष्ट किया गया। प्राय: १३वीं श० ई० तक मुख्य मध्यदेश से बौद्धधर्म का लोप हो गया।[5] लेकिन नेपाल में बौद्धों का प्राचीन ऐश्वरिक मत विकसित हो रहा था।

काशी और सारनाथ पर सबसे पहला आक्रमण तो १०१७ ई० में महमूद गजनी ने ही किया था। लेकिन १०२६ ई० में महीपाल की प्रेरणा से काशी के मंदिरों और सारनाथ के स्तूपों का उद्धार किया गया। ११वीं श० ई० में कलचुरि राजा कर्णदेव के काल में सारनाथ के एक महायानी भिक्षु ने अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता की प्रतिलिपि कराई थी।

गाहड़वाल राजा गोविन्दचन्द्र देव (राज्यकाल ११५४ ई० —६८) की रानी कुमारदेवी ने सारनाथ में एक बिहार बनवाया जिसके अवशेष आजकल की खुदाई में पाये जाते है। लेकिन चौदहवीं शता० तक सारनाथ, कुशीनगर और गोरखपुर में बौद्धधर्म का लोप हो गया। मुसलमानों के लगातार आक्रमण और ब्राह्मणों के विरोध से बौद्धों के बिहार टूटे और उनके रहे-सहे सांस्कृतिक अवशेष भी झुलस गए। सहस्रों तो मौत के घाट भी उतारे गए। बौद्धधर्म मगध और शेष भारत से भाग नैपाल तथा तिब्बत में शरण ली। वहाँ भी उनके गानों की लहरी न रुकी। स्वर्ग को जाते-जाते भी इन बौद्ध सिद्धों ने जन-मन को अपने सहजगानों से झंकृत कर ही दिया। नए-नए लोकगान इन योगियों के एक तारे पर झंकृत हो लोक हृदय को रसमग्न करते रहे। इनकी संगीत-लहरी से काव्योपवन लहरा उठा। आगे चलकर इनसे प्रभावित हो विद्यापति और चैतन्य ने ऐसा दिव्य संगीत छेड़ा जिसमें जन-जीवन के अन्तराल में बहती हुई मानवी प्रवृत्तियों की रसमयी धारा के उत्ताल तरंगों का भव्य विन्यास दृष्टिगोचर हुआ। लगभग १६वीं श० ई० में बंगाल में तांत्रिक बौद्ध-भिक्षुओं और सहजयानियों का अंतिम समूह चैतन्यमत में विलीन हो गया।

वर्णरत्नाकर में जैनधर्म का कोई उल्लेख नहीं। उस समय जैनधर्म का अस्तित्व अनुमानतः समाप्त था। ऐतिहासिक दृष्टि से भगवान् बुद्ध के समकालीन ही महावीर आविर्भूत हुए जो जैन मतानुसार चौबीसवें तीर्थंकर थे। अहिंसा का आग्रह उनमें अधिक था। व्रत, उपवास और तप को वह महत्व देते थे। मुक्ति का मुख्य साधन वह ज्ञान को मानते थे आगे चलकर कई देवताओं को भी जैनी मानने लगे थे इनमें ६४ योगिनियों का पूजन

प्रचलन हिन्दू धर्म के समान ही था जिसका उल्लेख आगे किया जायेगा सातवीं व आठवीं शताब्दी में ब्राह्मण-धर्म के पुनरुत्थान के साथ इनका भी पतन हो गया।

हमारे आलोच्यकाल में पूर्व-मीमांसा, न्याय, सांख्य और योग-दर्शन का भी अस्तित्व था। ज्योतिरीश्वरी ने जैमिनी का उल्लेख ऋषि-वर्णन करते हुए किया है।[६] जैमिनी की पूर्व-मीमांसा विषयक युक्तियों की व्याख्या मिथिला के वाचस्पति मिश्र ने 'न्याय कणिका' नामक ग्रन्थ में की है। मीमांसा वस्तुतः कर्मकाण्ड का प्रतिपादक है और वेद के क्रियात्मक भाग की व्याख्या करता है। इसमें यज्ञ-बलिदान और संस्कारों पर जोर डाला गया है। इसके अनुसार वेद मन्त्र ही देवता है। कर्म के द्वारा ही फल की प्राप्ति होती है। अतएव ईश्वर को मानने की आवश्यकता नहीं। आत्मा, ब्रह्म, जगत् आदि का इसमें विवेचन नहीं किया गया है। मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं और नैयायिक अनित्य। वेद की प्रामाणिकता को सांख्य भी इन्हीं के समान मानते हैं। लेकिन वे इनके समान नित्य नहीं कहते। कुमारिल ने मीमांसा पर 'कातन्त्र वार्तिक' और 'श्लोक वार्तिक' लिखकर वेद-विरोधी बौद्धों का खण्डन किया। मध्वाचार्य ने इस पर 'जैमिनीय-न्यायमाला-विस्तार' नामक ग्रन्थ लिखा। इसमें कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड में से पूर्व (कर्मकाण्ड) का विवेचन होने से यह पूर्वमीमांसा कहलाया। उत्तरमीमांसा या वेदान्त दर्शन पर शंकराचार्य ने महत्वपूर्ण भाष्य लिखा। अपने अद्वैतवाद के द्वारा इन्होंने आत्मा और परमात्मा में जहाँ अभेद दिखलाया वहीं मायावाद का बड़ा ही पाण्डित्यपूर्ण समर्थन किया। उन्होंने प्रस्थानत्रयी (वेदान्त, उपनिषद् और गीता) का अद्वैतपरक अर्थ प्रचारित किया। उनके अनुसार जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं। रस्सी में सर्प की भ्रान्ति की तरह नित्य और शुद्ध ब्रह्म में भ्रमात्मक जगत् की कल्पना की जाती है। माया के कारण ही ब्रह्म विभिन्न रूपों में दीखता है। ब्रह्म और माया के ही संयोग से जीवों का निर्माण होता है। माया अनिर्वचनीय है। ज्ञान से ही माया नष्ट होती है और ब्रह्म का साक्षात्कार हो सकता है। शंकर के मायावाद को बौद्धों से प्रभावित मान कर लोगों ने उन्हें 'प्रच्छन्न बौद्ध' भी कहा है। कुछ भी हो इनकी मान्यताओं का सबसे अधिक प्रचार हुआ और देश के चारों कोनों में चार सुप्रसिद्ध मठों की स्थापना हुई।

न्याय की दृष्टि से तो मिथिला को ज्योतिरीश्वर के कुछ पूर्व से ही गढ़ माना जाने लगा था परन्तु स्वतंत्र रूप से कहीं भी न्याय-दर्शन की चर्चा वर्णरत्नाकर में नहीं मिलती जो आश्चर्यजनक अवश्य है। हाँ, इसके प्रवर्तक गौतम का नामोल्लेख अवश्य है। गौतम के न्यायसूत्रों के प्रसिद्ध भाष्य 'वात्स्यायन कृत 'न्यायसूत्र भाष्य' की टीका सातवीं सदी के आरम्भ में उद्योतकर ने लिखी। यह बहुत प्रामाणिक समझी जाती है। मिथिला के वाचस्पति मिश्र ने इसकी बड़ी ही प्रामाणिक टीका लिखी। उसकी भी टीका उदयनाचार्य ने तात्पर्य-परिशुद्धि नाम से लिखी। एक अन्य उदयन (लगभग ९८४ ई०) ने इसी विषय पर 'कुसुमांजलि' नामक ग्रन्थ लिखा इसमें उसने न्याय के आधार पर ईश्वर की सत्ता सिद्ध की है। इस ग्रन्थ में उदयन ने मीमांसकों के नास्तिकवाद तथा वेदांतियों, सांख्यों और बौद्धों के परिणामवाद का खण्डन किया है। उसके 'बौद्धाधिक्कारम्' नामक ग्रन्थ लिखकर बौद्ध-दर्शन की तीव्र आलोचना की यह उदयन पूर्वी मिथिला के अधिवासी थे ने

उदयन के सिद्धान्त की प्रशंसा की है।[७] इससे इनके न्यायविषयक विचार की लोकप्रियता सिद्ध होती है।

न्यायदर्शन में वस्तु के यथार्थ ज्ञान के लिये विचारों का योजनाबद्ध निरूपण मिलता है। इसके अनुसार सोलह पदार्थों—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान के सम्यक् ज्ञान के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है। आप्त का शब्द ही प्रमाण है। वेद प्रमाण है। वह ईश्वर कृत है। प्रमाण चार हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। प्रमेय जानने योग्य पदार्थ को कहते हैं यह बारह है—१—आत्मा—सब वस्तुओं को देखने और अनुभव करने वाला, २—शरीर—भोगों का आयतन, ३—इन्द्रियां—भोगों के साधन, ४—अर्थ—भोग्य पदार्थ, ५—बुद्धि, ६—मन, ७—प्रवृत्ति - मन, वचन, और शरीर का व्यापार, ८—दोष—जिसके कारण सांसारिक कार्यों में प्रवृत्ति होती है, ९ पुनर्जन्म, १०—फल—दुःख या सुख का अनुभव, ११—दुःख, १२—अपवर्ग या मोक्ष।

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान आत्मा के लिंग (अनुमान के साधन) है। आत्मा ही कर्ता और भोक्ता है। संसार को बनाने वाला आत्मा ईश्वर (परमात्मा) है। ईश्वर में भी आत्मा के समान संख्या, परिणाम, पृथकत्व, संयोग, विभाग आदि गुण है, परन्तु नित्य रूप से। पूर्वजन्म में किये हुए कर्मों के अनुसार शरीर उत्पन्न होता है। पंचभूतों से इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है और परमाणुओं के योग से सृष्टि।

महर्षि कणाद और उनके वैशेषिक दर्शन का ज्योतिरीश्वर ने उल्लेख नहीं किया है। ऐसा संभवतः यह जानकर भी किया गया होगा कि गौतम के न्याय-दर्शन से इसकी बहुत कुछ समानता है। न्याय में प्रमाणपक्ष की प्रधानता है तो इसमें प्रमेय की। ईश्वर, जीव, जगत् आदि के सम्बन्ध में दोनों के विचार समान हैं। लेकिन वैशेषिक में उससे आगे पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा (और परमात्मा) तथा मन-इन नौ द्रव्यो की विशेषताएं बताने के कारण इसका नाम वैशेषिक पड़ा। इसके अनुसार परमाणु नित्य अविनाशी है। इन्हीं की योजना से पदार्थ बनते और सृष्टि होती है। पदार्थ केवल छः है - द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष और सामान्य। बाद में अभाव भी सातवां पदार्थ माना गया। रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द, संख्या, पृथकत्व, बुद्धि, सुख-दुःख आदि चौबीस गुण है। उत्प्रक्षेपण, अवक्षेपण आदि पांच प्रकार की गतियां कर्म हैं।

सांख्य-दर्शन के प्रवर्तक कपिल का नाम वर्णरत्नाकर (पृ० ५७) में आया है। इस दर्शन के अनुसार सत्व, रज तथा तम इन तीनों गुणों के योग से सृष्टि का विकास हुआ। साख्य के अनुसार आत्मा ही पुरुष है। परमात्मा कोई नहीं। इस दर्शन में पच्चीस तत्व माने जाते हैं: पुरुष, प्रकृति, महत्व (बुद्धि), अहंकार, ग्यारह इंद्रिया (पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाच कर्मेन्द्रिया और मन), पांच गुण और पांच महाभूत। बुद्ध के समय इस दर्शन का बडा प्रसार था। बाद में वाचस्पति मिश्र ने ईश्वर कृष्ण की 'सांख्यकारिका' पर 'सांख्यतत्व कौमुदी' नामक प्रामाणिक भाष्य लिखा। इससे ग्यारहवीं सदी में भी इसका अस्तित्व है लेकिन तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी में इसका उतना महत्व नहीं रहा

योगदर्शन की तो ज्योतिरीश्वर ने प्रभूत सामग्री का चित्रण किया है। उसने अन्तर्योग और बहिर्योग नाम से यम, नियम, प्राणायाम, प्रत्याहार, समाधि, ध्यान, धारणा, बन्ध, वेन्ध, मुद्रा और आसन प्रभृति मुक्तिव्यापारों का वर्णन है।[८] चित्त को एकाग्र कर ईश्वर में लीन करने का विधान योगदर्शन में बतलाया गया है। इस सम्प्रदाय में सांख्य के पच्चीस तत्वों के स्थान पर छब्बीस तत्व माने गये हैं। यह छब्बीसवाँ तत्व ईश्वर है। वह नित्य, मुक्त, एक, अद्वितीय त्रिकालातीत है। संसार कष्टमय है। इससे बचने के लिए योगांगों का साधन आवश्यक है। पतंजलि ने योग के आठ अंगों का साधन बताया है। वे क्रमशः यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि हैं। योगसूत्रों के 'व्यासभाष्य' की वाचस्पति मिश्र ने टीका लिखी। कालान्तर में योगदर्शन से तंत्र का समागम हुआ और शरीर में कई चक्र कल्पित कर उनका ध्यान किया जाने लगा। फलरूप हठयोगप्रदीपिका आदि ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। हमारे आलोच्यकाल में योगी का इतना सम्मान था कि उसके सौम्य चित्त से स्वच्छ सरोवर की उपमा दी जाने लगी।[९]

वैदिक देवताओं में वर्णरत्नाकर में रुद्र, विश्वदेव, वायु और विष्णु आदि का उल्लेख है। शिव अथवा रुद्र के वैदिककालीन रौद्र रूप के स्थान पर मंगलमय रूप ही प्रतिष्ठित हुआ है। शिव की अष्टमूर्ति भी मिलती है।[१०] पौराणिक देवताओं में दशावतार, नवग्रह, अष्टवसु चौदहमनु द्वादश साध्य, उनचास वायु, अष्ट दिग्गज, अष्ट दिक्पाल, आदि का वर्णन किया गया है।[११]

वैष्णवों के भागवत संप्रदाय का मुख्य ग्रन्थ पांचरात्रसंहिता है। महाभारत के शान्तिपर्व के नारायणीयाख्यान के अन्तर्गत इसका विवेचन है। इस उपाख्यान में नारायण को हरि कहा गया है। ज्योतिरीश्वर ने आगमों की सूची में 'नारायणी' नाम से इसी वैष्णव आगम का संकेत किया है।[१२] उक्त आगम में नारायण ने ऐकांतिक भक्ति का उपदेश दिया है। पांचरात्र संप्रदाय वाले अभिगमन (मंदिरों में जाना), उपादान (पूजन-सामग्री एकत्र करना), इज्या (पूजा), स्वाध्याय (मंत्रों का पढ़ना) और योग से भगवान का साक्षात्कार होना मानते थे। इस शास्त्र के आधार पर विष्णु के अवतारों की कल्पना की गई है। अवतारों की चौबीस संख्या तक गिनाने में शायद २४ बुद्ध और २४ तीर्थंकरों का भी प्रभाव दीखता है। इसका प्रचार इतना हुआ कि ११वीं श० ई० तक बुद्ध और प्रथम तीन जैन तीर्थंकर भी विष्णु के अवतार घोषित कर दिए गए।[१३] बाद में अवतारों की प्रशस्त संख्या १० ही नियत कर दी गई।

ज्योतिरीश्वर द्वारा वर्णित आगम ग्रन्थों में से अधिकांश शैव सम्प्रदाय के हैं। शैव लोग शिव को ही सृष्टि का कर्ता, धर्ता और हर्ता मानते थे। उस काल की अनेक शिवमूर्तियाँ और शिवलिंग मिलते हैं। शिव की चतुर्मुख मूर्तियों में पूर्ववाला सूर्य का, उत्तरवाला ब्रह्मा का, पश्चिम वाला विष्णु का और दक्षिण वाला रुद्र का सूचक था।

बारहवीं शताब्दी ई० में लगभग समूचे भारत में शैवमत का प्राबल्य था। उत्तर में उसका प्रधान और महत्वपूर्ण रूप नाथमत था जो दक्षिण के शैवमत (लिंगायत) से बहुत सम्बद्ध नहीं जान पड़ता जनवर्ग से प्रभावित होने के कारण का आश्रय पाने

के कारण और मुसलिम आक्रमण के रूप में विजातीय संस्कृति की उपस्थिति के कारण वह निर्गुणपंथी, सहनशील और उदासीन बना रहा।[१४] पूर्वी भारत में बौद्धधर्म के तंत्र-मंत्र वाले अन्तिम वज्रयानी रूप का प्राबल्य था। सेन राजाओं के समय उड़ीसा होते हुए दक्षिण वैष्णव-धर्म का प्रवेश बंगाल में हुआ। उत्तर में वैष्णव धर्म उतना ऐकान्तिक नहीं था जितना दक्षिण में ऐकान्तिक भक्ति के साथ वज्रयानी भावनाओं के मिश्रण से वैष्णव धर्म ने उड़ीसा में एक नया रूप ग्रहण किया। सेन राजा भी शुरू में शैव थे। विजयसेन स्वयं अपने को शैव मानते थे। परन्तु, उन्होंने प्रद्युम्नेश्वर का मंदिर बनवाया था जिसकी मूर्त्ति में शिव और विष्णु का मिश्रण था। उस मंदिर के एक लेख में इस मिश्रमूर्ति का बड़ा ही कवित्वमय वर्णन दिया गया। मैथिल कवि विद्यापति के पदों में भी ऐसा ही भाव व्यक्त हुआ—

"भल हरि भल हर भल तव कला।
खन पीत वसन खनहि बघछला॥"

वस्तुतः ज्योतिरीश्वर अथवा विद्यापति शैव, वैष्णव अथवा शाक्त में से किसी एक सम्प्रदाय के ही नहीं थे। अपने युग के प्रतिनिधि थे। उस समय समूचा उत्तर भारत प्रधान रूप से स्मार्त्त था। शिव के प्रति इसकी अखंड भक्ति बनी हुई थी, परन्तु उसमें अपूर्व सहनशीलता का विकास हुआ था। विष्णु भी उतना ही महत्वपूर्ण देवता माना जाता था। शिव सिद्धिदाता थे, विष्णु भक्ति के आश्रय (गाहड़वाल नरेश अपने को माहेश्वर भी कहते थे और अपनी प्रशस्तियों में लक्ष्मीनारायण की स्तुति भी किया करते थे।[१५] इसी सहनशील उदार और अनाक्रामक मनोभाव की पृष्ठभूमि में हिन्दी तथा मैथिली का आदिकालीन साहित्य लिखा गया। बहुत-सी परवर्ती स्मृतियाँ और उप-पुराण जातीय पुस्तकें, बहुत-सी वैष्णव और शैव संहिताएँ उसी काल में लिखी गई जिनमें भावी भक्तिसाहित्य के प्रेरणा बीज वर्तमान थे। इस प्रकार शिव, शक्ति और विष्णु तीनों एक ही अनादि परब्रह्म के भिन्न-भिन्न स्वरूप जानते हुए भारतीयों ने विशेषकर मिथिलावासियों ने इनमें अभेद बुद्धि प्राप्त कर ली। विद्यापति के पद और ज्योतिरीश्वर के वर्णन से भली प्रकार सिद्ध होता है।

धार्मिक सहिष्णुता का यह भाव हमारे आलोच्य काल में लगभग सारे भारत में विद्यमान था। विविध संप्रदायों में परस्पर भिन्नता होते हुए भी उनमें एकता तत्व निहित था। ब्रह्मा विष्णु शिव आदि के पूजकों में एकता के फलस्वरूप पंचायतन-पूजन चल पड़ा। कन्नौज के प्रतिहार राजाओं में एक वैष्णव था तो दूसरा शैव और तीसरा भगवती का तो चौथा सूर्य का पूजक। कन्नौज के परम शैव राजा गोविन्दचन्द्र ने बौद्ध भिक्षुओं को बिहार के लिए छः गाँव दिए थे। उसकी रानी बौद्ध थी। बौद्ध राजा मदनपाल ने अपनी रानी को महाभारत सुनाने वाले ब्राह्मण को एक गाँव दिया था। जैन, बौद्ध और शेष हिन्दुओं में परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध भी प्रचलित हो गया।[१६] लेकिन इसी समय मुसलमानों के आक्रमण के साथ नवीन भाषा, नवीन मजहब और नवीन सभ्यता का बलात् प्रसार हुआ।

ज्योतिरीश्वर ने श्मशान वर्णन के प्रसंग में शिव के अनेक गणों के नाम बताए हैं। वे हैं आठ भैरव, बारह बेताल, डाकिनी, साकिनी, कोल, क्रव्याद, कुलप, राक्षस, कट, पुतन, प्रेत पिशाच कुष्माण्ड मातृक और [१७] सबसे अन्त में कापालिक का नाम

आया है ये लोग भैरव और रुद्र की उपासना करते थे इनके छः चिन्ह थे—माला भूषण कुंडल, रत्न, भस्म और उपवीत। कापालिक लोग मनुष्य की खोपड़ी में खाते थे। शरीर में श्मशान की राख मलते थे और शराब का प्याला साथ रखते थे। शंकर-दिग्विजय में एक ऐसे कापालिक से शंकर के मिलने का वर्णन है। भवभूति ने भी 'मालती माधव' में खोपड़ियों की माला धारण की हुई कपालकुंडला स्त्री का चित्रण किया है। घेरंडसंहिता नामक हठयोगी ग्रन्थ बंगाल के वैष्णव घेरंड द्वारा लिखित है।[१८] इसके अनुसार योग की शिक्षा चंड कापालिक नाम के व्यक्ति को दी गई। इससे स्पष्ट है कि कापालिक लोग योगसाधन करते थे और शैव तथा वैष्णव समान थे। कापालिकों का कनफटा योगियों से घनिष्ठ सम्बन्ध था। ब्रिग्सन ने बताया है कि कापालिक लोग विशेषकर कनफटा योगियों में अन्तर्भुक्त हो गए। दूसरे शैव सम्प्रदायों में लकुलीश लोग थे जिनसे दक्षिण के कालामुख (१२वीं १३वीं श० ई० में क्रियाशील) लोगों का बहुत सम्बन्ध था। इनके कुछ ही पहले लगभग ९वीं-१०वीं श० ई० तक पाशुपतों का तो लोप ही हो चुका था।

ज्योतिरीश्वर ने स्पष्ट रूप से कापालिक के साथ कौल आदि को वामाचारी कहा है।[१९] कौल मत में वीराचार साधन की अधिकता है तथा उसमें 'शक्ति' की साधना आवश्यक मानी गई है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा अवतरित कौलज्ञान का विवेचन करते समय बताया है कि गोरक्ष सम्प्रदाय के योगमार्ग और कौलमार्ग के चरम लक्ष्य में कोई भेद नहीं है, सिर्फ इतना ही विशेष है कि योगी पहले से ही अंतरंग उपासना करने लगता है परन्तु तांत्रिक पहिले बहिरंग उपासना करने के बाद क्रमशः अंतरंग (कुंडली) साधना की ओर जाता है। कौल मार्ग में भी यह विश्वास किया जाता है कि योगी और कान्त का लक्ष्य एक ही है।[२०]

नाथों का भी कापालिकों से सम्बन्ध था। आचार्य द्विवेदी जी के अनुसार कानिपा 'वामारग' सम्प्रदाय को आज भी नाथ लोग मानते है, यद्यपि वह पूर्णरूप से गोरखनाथी नहीं है।[२१] गोरक्षासिद्धान्त संग्रह के अनुसार कापालिक मत नाथ के द्वारा ही उद्भूत हुआ है। इसमें शंकराचार्य को कापालिक के द्वारा पराजित कराकर उससे अवधूत मत ग्रहण करवाया गया है।[२२]

वर्णरत्नाकर में श्मशान को आठ शक्तियों से व्याप्त माना गया है। ये शक्तियाँ भयंकर रूपिणी हैं। कापालिकों और कालामुखों से इनका सम्बन्ध है। कौलिक और समयी नामक शाक्तों के ही भेद थे जो स्त्रियों के गुह्यभाग की पूजा करते थे। राजशेखर ने कर्पूरमंजरी में भैरवानन्द के मुख से कौल मत का वर्णन इन शब्दों में करवाया है—'हम मंत्र तन्त्रादि कुछ नहीं जानते, न गुरुकृपा से हमें ज्ञान प्राप्त है। हम लोग मद्यपान और स्त्रीगमन करते हैं और कुलमार्ग का पालन करते हुए मोक्ष को प्राप्त होते हैं। कुलटाओं को दीक्षित कर हम धर्मपत्नी बना लेते हैं। मद्य पीते और मांस खाते हैं। भिक्षान्न हमारा भोजन और चर्मखंड बिछावन है। ऐसा कौलमत किसे रमणीय नहीं लगता?[२३] स्पष्ट है कि कौलमता-वलंबी के प्रवर्तक हुए

इसके अतिरिक्त चौसठ योगिणियों की भी साधना प्रचलित था दशमहाविधाओं में भी आजकल भी मिथिला में काली, तारा और भुवनेश्वरी का विशेष प्रभाव है। श्मशान को पुण्यस्थल मानकर वामाचार साधना का केन्द्र माना जाता था। उसी हेतु इतने विस्तार के साथ श्मशान (शव स्थान) का चित्रण वर्णरत्नाकर में मिलता है। ऐसा कहा जाता है कि वामाचार मार्ग से सिद्धि भी शीघ्र ही प्राप्त होती थी। किन्तु उसमें आचार भ्रष्ट होने के कारण पतन की भी संभावना अधिक थी। फिर भी यह मार्ग बहुत आदर की दृष्टि से देखा जाता था। उस मार्ग के अनुसरण करने वाले असंख्य सिद्ध मिथिला में हुए हैं। उनके वृत्तान्त आबालवृद्ध में अब भी प्रचलित है। लेकिन वामाचार और कौलमत का प्रचार बढ़ने पर निम्न वर्णों की स्त्रियों में अभिचार कर्म विशेष प्रचलित हो गया। वस्तुतः इसमें भी अन्तरंग गुण थे, जिनका अनुकरण करना साधारण साधकों के लिए कठिन हो गया। फलस्वरूप, लोग आचार भ्रष्ट होने लगे। तब जनता इन्हें हेय दृष्टि से देखने लगी।

वर्णरत्नाकर में आगमों की जो तालिका मिलती है उसमें शाक्त, शैव और वैष्णव आगमों के अतिरिक्त प्रज्ञापारमिता एवं अष्टसाहस्रिका जैसे बौद्ध आगमों को भी सन्निविष्ट किया गया है। साथ ही चौरासी सिद्धों की भी जो सूची मिलती है उसमें सहजयानी बौद्ध सिद्धों के साथ नाथपंथी सिद्ध भी सम्मिलित हैं। अष्ट प्राकृत्त सिद्धियाँ, अष्ट उपसिद्धियाँ और अष्ट महासिद्धियों की सूचियों में भी 'पौराणिक परम्परा के साथ तान्त्रिक साधनाओं का अपूर्व मेल है। इन प्रमाणों से मिथिला की धार्मिक सहिष्णुता का ही बोध होता है। बुद्ध को तो हमारे आलोच्ययुग में विष्णु का नवाँ अवतार मानकर अपना ही लिया गया था। इस प्रकार व्यापक रूप से शिव, शक्ति और विष्णु यही तीन देव मिथिला के जनप्रिय देवता बन गए। अधिकांश मैथिल अपने ललाट पर इन तीनों के प्रतीक रूप तिलक करते हैं। ललाट पर बाएँ से दाएँ जो तीन पड़ी भस्म रेखाएँ रमाते हैं, वे शिवशक्ति की प्रतीक हैं। शुभ्र चंदन चर्चित तीन खड़ी रेखाएँ विष्णु के प्रति विश्वास और रक्तचंदन अथवा सिंदूर की बूँद शक्ति-साधना को सिद्ध करती है।

यद्यपि मिथिला में एक ही व्यक्ति शैव, शाक्त और वैष्णव तीनों होता है। इसमें कोई धर्म-संकट नहीं होता फिर भी किसी एक देवता के प्रति विशेष श्रद्धा का होना स्वाभाविक है। ज्योतिरीश्वर ने चौरासी सिद्धों, आगमों, सिद्धियों, योगिनियाँ और शक्तियों की जो विस्तृत सूचियाँ दी है और देवीभागवत को ऊँचा स्थान दिया है इससे शाक्त मत में विशेष अभिरुचि ही झलकती है। वस्तुतः शाक्त मत उस समय का प्रचलित मत भी ज्ञात होता है। तब से मिथिला में शक्ति की साधना विशेष रूप से चल पड़ी।

मिथिला में अधिकांश परिवारों में 'गोसाइ घर' अथवा 'गोसाउनिक घर' देखा जाता है। इसमें भद्रकाली, तारा, दुर्गा वा किसी अन्य देवी की मूर्ति अथवा मृण्मय पिंड प्रतिष्ठित पाते हैं। मिथिला के सुप्रसिद्ध शक्तितीर्थ है—उच्चैठ, उग्रतारा, चण्डिका और कात्यायनी (चामुण्डा) स्थान। वर्णपरिचय के बाद मैथिल शिशुओं को यह श्लोक सर्वप्रथम मुखस्थ कराया जाता है

सा मे भवतु सुप्रीता देवी शिखरवासिनी।
उग्रेण तपसा लब्धो यया पशुपतिः पतिः।।

मिथिला एवं बङ्गाल में मृण्मयी दुर्गा की पूजा तो प्रशस्त ही है। दशहरा इसीलिए सबसे बड़ा धर्मोत्सव है। माघ मास में 'पातहि' नामक एक उत्सव होता है। जिसमें देवी के अंशरूप कुमारियों को खीर खिलाई जाती है। ब्रजमण्डल में भी आश्विन मास में 'कन्या लागुड़ा' नामक उसी प्रकार का उत्सव होता है। मिथिला का लोकप्रचलित 'अरिपन' शब्द भी तन्त्र के यन्त्र से गृहीत लगता है और उस पर शाक्त प्रभाव मालूम पड़ता है।

विद्यापति के अधिकांश गीत तो शिव-पार्वती के सम्बन्ध के ही हैं। शिव-शक्ति की साधना से ऐसे अनेक पद उन दिनों प्रचलित हुए। एक गीत में यतिवेशधारी शिव को देखकर गौरी अपनी माता को बुलाती, जो कहती है: 'यहाँ पर कहाँ से यह योगी आया? गौरी तप में लीन है। साँप को देखकर डर जाएगी। जटाजूट मैं खोल दूँगी और झोली फाड़ दूँगी। यदि हटाने से भी यति नहीं मानेगा तो अपमान होगा। इसके तीसरे नेत्र में तो अग्नि जलती है। मेरी उमा जो नवनीत है कहीं देख न ले। विद्यापति कहते हैं सुनो ये त्रिभुवन के दाता हैं।'

एक दूसरे गीत के अनुसार शिव ने तपोवन में आकर स्वयं उमा के संग प्रेम करने की चेष्टा की। विस्मय विस्फारित हृदय से उमा अपनी माँ से पूछती है: 'हे माँ, उस तपोवन में एक तपस्वी से भेंट हुई। उसने वहाँ जितने भी फूल थे, सब अंजलि में भरकर तोड़ दिए। तीन नेत्रों से घूरकर मुझे क्षण भर देखा। नेत्र में अनल और गले में गरल शोभायमान थे। वह डिमडिम डमरू बजा रहा था। माथे की सुरसरि उसके ललाट पर विचर रही थी। हाथ में कमंडलु, विभूति-विमंडित और बैल पर सवार हो वह दिगम्बर आए। विद्यापति कहते हैं हे गौरी! माता से स्वामी की निंदा मत कीजिए। वह तो मुक्तिप्रदाता हैं।'

दुर्गवर्णना के प्रसंग में द्वार पर गौरी, गणपति और कार्तिक के पूजन का उल्लेख ज्योतिरीश्वर ने किया है। गणपति या विनायक रुद्रगणों का नेता था मध्यकाल में गणपत्यों की कई शाखाएँ हो गई। परवर्ती काल में इनकी पूजा और भी बढ़ी। कुमारविजय अथवा कार्तिक को स्कंद भी कहा जाता है। वह शिव का पुत्र और देवों का सेनापति था। पतंजलि ने महाभाष्य में शिव और स्कंद की मूर्तियों का उल्लेख किया है। उक्त देवी देवताओं के अतिरिक्त द्वादश आदित्य का वर्णन करते हुए ज्योतिरीश्वर ने सूर्यपूजा के भी प्रचलन का संकेत किया है। वराहमिहिर ने सूर्य की मूर्तियों की पूजा का मगों के द्वारा प्रचलित होने का उल्लेख किया था। भविष्यपुराण (ब्रह्मपर्व, अ० १३९) में शाकद्वीप के मग ब्राह्मणों को इसके पूजनार्थ बुलाने की कथा है। अलबेरुनी के अनुसार भी तमाम सूर्य मन्दिर के पुजारी ईरान के मग होते थे। सामान्य रूप से सात घोड़ों वाली सूर्य मूर्तियाँ मिलती हैं।

ज्योतिरीश्वर ने इन देवी-देवताओं के बीच नव-ग्रहों के जो नाम बताए हैं, उससे भी उनकी मूर्तियाँ बनाकर पूजने की प्रथा का पता चलता है उस युग में ग्रह, नक्षत्र प्रात

मध्याह्न, सायं आदि समय-विभाग, नदियों और युगों की भी मूर्तियाँ बनने लगी थीं। वर्णरत्नाकर में वर्णित अष्टदिक्पाल की मूर्तियाँ कई मन्दिरों में अपनी-अपनी दिशाओं के क्रम से लगी हुई पाई जाती हैं। इस प्रकार इस युग में हम विविध साधना-सरणियों का विकास होते देखते है। इन्हीं के गर्भ से हिन्दी-साहित्य के भक्तिकालीन साहित्य का सारस्वत स्रोत प्रवाहित हुआ जिसमें स्नात हो भारतीय लोक-जीवन धन्य बन गया। तीर्थ, यज्ञ, ऋषि, देववैद्य, पतिव्रता, यज्ञवृक्ष और पवित्र नदियों के प्रति भी प्रखर धार्मिक विश्वास हम इस युग में पाते हैं। इस प्रकार पौराणिक धार्मिक विश्वासों का प्रभूत प्रचलन आरम्भिक मध्यकालीन भारत की विशेषता थी।

संदर्भ-संकेत

(१) वर्णरत्नाकर, संपा० डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, रॉयल एशि० सोसा० बंगाल, १६४१ ई०।

(२) 'बौद्धपक्ष अइसन आपात भीषण
उदयनक सिद्धांत अइसन'—वर्णरत्नाकर, सरोवरवर्णना, पृ० ३६।

(३) बायोग्राफी ऑफ धर्मस्वामिन्, जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना। (४) उपरिवत् (५) आउट लाइंस ऑफ रिलीजियस लिट्० इन इंडिया, पृ० २७४-७५। (६) वर्णरत्नाकर, पृ० ५७। (७) वर्णरत्नाकर, पृ० ३६। (८) वर्णरत्नाकर, पृ० ४३ (योगांग प्रकरण में इन पर प्रकाश डाला गया है)। (६) 'योगीक चित्त अइसन सौक्य'—वर्णरत्नाकर, सरोवरवर्णना, पृ० (१०) वर्णरत्नाकर, पृ० ५८। (११) वही, पृ० ५८-५६ (१२) उपरिवत्। (१३) डा० भंडारकर : वैष्णविज्म शैविज्म, पृ० ५८-६४। (१४) डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : आदिकालीन हिन्दी साहित्य। (१५) डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : आदिकालीन हिन्दी साहित्य। (१६) चिन्तामणि विनायक वैद्य : हिस्ट्री ऑफ मिडिएवल इंडिया, जि० ३, पृ० ४२६-३०। (१७) वर्णरत्नाकर, पृ० ५४-५५। (१८) घुरे : दि० ईन्साइक्लेपिडियम आफ इंडियाज साधुज, पृ० ६। (१६) वर्णरत्नाकर, पृ० ५२। (२०) नाथ संप्रदाय, पृ० ६६। (२१) वही, पृ० ८२। (२२) गोरक्षसिद्धान्त संग्रह, पृ० १७-१६। (२३) कर्पूरमंजरी, २२, २३।

केशव का काव्य-धर्म

डॉ० कमलाप्रसाद पाण्डेय

कवियों का मूल्यांकन करते समय समीक्षक या तो अपने आग्रहों की तरफदारी करते हुए कवि को उसकी रचना-प्रक्रिया में नहीं देखते या अन्य रीतिकारों से—अत्यधिक रागात्मक रूप से आबद्ध होकर अपर रचना पद्धतियों के प्रति तटस्थ नहीं रह पाते। पुरानी समीक्षा पद्धतियों में एक विशेष दोष रहा है कि समीक्षक कवि के प्रस्थान और प्रयोजन से भिन्न अपने सिद्धान्तों की सीमाओं में काव्य की परीक्षा करते थे। आचार्य शुक्ल जैसे सूक्ष्मद्रष्टा ने भी ऐसी भूल की है। उनका रागात्मक सम्बन्ध तुलसी, जायसी और सूर के काव्य के साथ था। इसलिए अन्य रचना प्रक्रियाओं की गहराई को नहीं खोज सके। आचार्य केशव की समीक्षा करते समय उन्होंने उन्हें हृदय हीन कवि कहा था। सौभाग्य है कि प्राचीन कवियों की पुनर्मूल्यांकन शृंखला ने केशव के काव्य का भी पुनर्मूल्यांकन किया है।

व्यक्तित्व का वैशिष्ट

केशव भक्ति और रीति के बीच की कड़ी थे। तुलसी को काव्य की प्रतिभा प्राप्त थी पर वे विशुद्ध कवियों की श्रेणी में नहीं आते। वे दार्शनिक भक्त, धार्मिक होने के पश्चात् ही काव्य की भूमिका में उतर रहे थे या यों कह सकते हैं कि उन्होंने अपने कवि—व्यक्तित्व को इन सूत्रों में अनुस्यूत किया था। तुलसी ने अपने आराध्य राम को समर्पित कर दिया था। उनका व्यक्तित्व राममय था और काव्य उसीकी अभिव्यक्ति। भक्तियुग में काव्य की सम्पूर्णता विषयगत गरिमा में सीमित हो गयी थी। राम-कृष्ण ही काव्य की प्रक्रिया में स्वीकृत थे। अतः कवि, जीवन की साधना में भक्त बन कर काव्य के क्षेत्र में उतरते या अपने राम-कृष्ण को भी अपनी नग्न सीमाओं में उतार लाते। राधा-कृष्ण के बहाने अपनी स्थूल, मांसल और गोपनीय अभिलाषाओं का मूर्तरूप देखे। केशव इन दोनों एकांगी सीमाओं से उबर सके थे। केशव परिष्कृत रुचि के व्यक्ति थे। वे राज-दरबार में रहे अतः वहाँ उनकी यह रुचि विकास पा सकी। वे अपने वैयक्तिक जीवन से लेकर सामाजिक जीवन में अपने संस्कारों के परिष्कार का प्रयास करते रहे। वे ऐसे राजदरबारी न थे जो राजाओं की प्रशस्ति का ठेका ले लेते।

वे ऐसे राजाओं के आश्रय में थे—जो विकसित काव्य-अभिरुचि रखते थे। जिन्होंने काव्य कला को अपने महलों में श्रेष्ठ स्थान दिया जो कला की पाठशालायें संचालित रखते थे, जो सम्पूर्ण राज परिवेश में तत्कालीन सौन्दर्य व प्रतिभाओं को देखना चाहते थे। केशव के व्यक्तिक संस्कार इस पृष्ठभूमि में एक परिपुष्ट व्यक्तित्व पा सके। केशव ओरछा नरेश की कला-मर्मज्ञता और ग्रहण शीलता के साकार रूप होते हुए प्रतिभा की सम्पन्नता के कारण उससे ऊपर थे। केशव भक्ति युग की सीमाओं को समझ सकते थे। उन्होंने देखा कि राम-चरित्र मानस में मानव राम नहीं है। यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि राम राजकुमार थे और प्रभुता के गुणों से प्रसूत मानव एतदर्थ ईश्वर। तुलसी ने माना कि राम का मानवीय रूप अगम है और ईश रूप सहज। केशव ने समझा कि इस धारणा से राम मानवीय प्रेरणा न बन सकेंगे। अतः उन्होंने राम को मानवीय रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। इसके अतिरिक्त राम के राज संस्कारों, रुचियों, और तद्गत प्रभावों को काव्य में स्थान देने का प्रयास किया। केशव राम को नहीं—राम की चंद्रिका को काव्य में स्थान देना चाहते थे। चंद्रिका, कीर्तिका नाम है। राम अपनी परिष्कृत रुचियों के अनुरूप परिवेश का निर्माण कर रहे थे तथा उनके सत्कार्यों का जो परिणाम था वही चंद्रिका है। तुलसी राम की आन्तरिक सत्ता और शक्ति की खोज कर रहे थे तो केशव उनके बाह्य मानवीय और शुभ्र परिणामों का झाँक रहे थे। तुलसी काव्य विषय राम को निरपेक्ष महत्ता दे रहे थे तो केशव राम की मानव सापेक्ष अलंकृत और धारणाओं को अभिव्यक्ति दे रहे थे। मानस में राम है तो राम चंद्रिका में उनकी चंद्रिका। तुलसी को राम के अतिरिक्त और किसी से काम नहीं था—पर केशव सम्पूर्ण परिवेश को उभारना चाहते थे। केशव राजकीय आचग्विकता को तद्रूपता के साथ सचित्र कर रहे थे। वे तत्कालीन सभ्यता को काव्य में उतारने का प्रयोग कर रहे थे। तुलसी के काव्य में युग के संस्कार केशव की अपेक्षा कम हैं या उसके मूलरूप को आदर्श न दिखा कर व्यक्त कर सके हैं। केशव के काव्य में युग का प्रतिबिम्ब मिलता है राम-कृष्ण हमारे काव्य के 'मिथ' है—इन विषयों में वस्तु की योजना कवि ही करता है। तुलसी की काव्य वस्तु भक्ति की थी। केशव की अपेक्षाकृत युगीन और मानव की आचार्य की कला मर्मज्ञता की—राज्य संस्कारों की परिष्कृत रुचियों की—और इस प्रकार तुलसी के काव्य के प्रभावों की। केशव का अहम उभरा हुआ था—तुलसी का दीन और राम में समर्पित। तुलसी आदर्शवादी और केशव यथार्थवादी रचना कार थे। अतः इन दोनों का मूल्यांकन करने के पूर्व दोनों के प्रस्थान व प्रयोजन के अन्तर को समझ लेना चाहिये। ये दोनों आचार्य सहृदय थे और एक दूसरे के पूरक। दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करने से काव्य की आत्मा व शिल्प पक्ष की गम्भीरता का बोध होगा। काव्य की आत्मा न तो उसका विषय है और न रस, न अलकार न छंद। रस, छंद, अलंकार और विषय सभी की संगति काव्य की आत्मा है। डॉ० नगेन्द्र ने काव्य सिद्धान्तों के दो पक्ष माने हैं—आत्मपक्षीय सिद्धान्त और शरीर पक्षीय सिद्धान्त। हमारी धारणा है कि प्रत्येक काव्य सिद्धान्त में दोनों विशेषतायें होती है। अलकार काव्य का शिल्प नहीं है। वह कवि के विशिष्ट व्यक्ति की अभिव्यक्ति का स्वरूप है आचार्यों के लक्षण ग्रन्थों में वर्णित और काव्य में निहित

भिन्न भिन्न होते हैं, यदि रचनाकार ने काव्य में अपने व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति दी है तो चाहे वह अलंकार की तरह दिखाई दे[1] या रस की तरह—उन दोनों में कवि की अनुभूति भी है और उसका प्रकाशन भी। अतएव केशव का काव्य, सौन्दर्य का काव्य है, चन्द्रिका का काव्य है, विषय के प्रभाव का काव्य है, संस्कारों को परिणति और तद्गत परिवेश का काव्य है, वह जीवन के यथार्थ मूल्यों का काव्य है, वह उभरे हुए अहं का काव्य है। उनका अलंकार प्रेम, अनुभूति से बिलग न होकर आन्तरिक ज्योति का परिणाम है। इस निबंध में केशव के काव्य के प्रति प्रचलित इसी वहम् का दूर करने का प्रयास है।

रचनाओं का प्रयोजन

केशव की प्रथम रचना "रतनबानी" में वीर रस का वर्णन है। इसमें कवि ने राजकुमार की वीरता का वर्णन करते और उसे अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए कल्पना का उपयोग किया है। इसमें अभिप्रात्मक चित्र हैं। जो वीरता की सम्वेदना शब्दों की वर्षा से अदा करते हैं। इसकी शैली 'चन्द' आदि की है। "रसिक प्रिया" के प्रयोजन की घोषणा म कहा है कि प्रीति तथा बुद्धि को एकत्र करके इसकी रचना की गई है। यह रसिक जनो के लिए है। केशव के काल में रसिक वही होते, थे जो काव्य कला मर्मज्ञ, शास्त्रज्ञ और काव्य के नियमित आस्वादक थे। इस रचना में अन्य रसों की उपस्थिति के साथ शृंगार रस की प्रधानता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता है कि सभी रसों का वर्णन शृंगारमय कर दिया गया है। शृंगार रस के साधन और साध्य दोनों की सूक्ष्म पकड़ यहाँ है। इसके संयोग-वियोग नायक-नायिका भेद, दाम्पत्य और स्वयं दूतत्व की चेष्टायें व मिलन स्थलों का परिष्कृत संकेत है। डॉ० विजयपाल सिंह का इस रचना के प्रति निष्कर्ष है—इसमें एक आचार्य की जागरण चेतना को पर्याप्त अवसर मिला, ऐतिहासिक दृष्टि से यह रचना महत्वपूर्ण है। केशव के समय तक हिन्दी में रस ग्रन्थों का प्राय: अभाव ही था। इसी को दृष्टि में रखकर केशव ने इस ग्रन्थ की रचना की। हिन्दी साहित्य को एक नई दिशा में मोड़ने का श्रेय इसी ग्रन्थ को है। अत: स्पष्ट है कि ऐसी रसिकता को सजाने और अपने ज्ञानात्मक एवं तथ्य परक विश्लेषण और उसकी सुरक्षा के लिए जो काव्य लिखा जाता है, 'रसिक प्रिया' वही है। 'नलशील' की प्रमाणिकता के प्रति सन्देह है पर इसमें केशव की शैली मिलती है। और उनके प्रयोजन की सिद्धि भी। 'रामचन्द्रिका' प्रबन्ध रचना है। रचनाकार की सम्पूर्ण काव्य अभिरुचि, कला नैपुण्य आचार्यत्व का संयोग इसी रचना में व्यक्तित्व पा सका है। इसका प्रयोजन **'रामचन्द्र की चंद्रिका वर्णत हों बहु छंद'** था। इस रचना से ही केशव का मूल्यांकन हो पाता है। इस रचना मे कलाकार ने दुराव नही किया है। उसने स्पष्ट कहा कि वह रामचन्द्र की कीर्ति, यश, वैभव और प्रशस्ति को विविध छन्दों में बाँधने का प्रयास कर रहा है। इस रचना में केशव की अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों के नये प्रयोग मिलते हैं। बहिर्मुखी जगत के किसी विशिष्ट अश को इतनी समग्रता से शायद ही हिन्दी का कोई कवि बाँध सका हो। केशव संस्कृत काव्य शास्त्र की परम्परा को हिन्दी में उतार लाना चाहते थे, अत: कहीं-कहीं वे रचनाकार की अपेक्षा शैलीकार व पण्डित हो गये हैं वहाँ वे काव्य-शास्त्र के अंग प्रत्यंग का अनुवाद

हिन्दी में करने लगे थे और हिन्दी में ऐसे संग्रह देना चाहते थे जिनमें हिन्दी के काव्य प्रेमियों के शास्त्र-ज्ञान मिल सके। रामचन्द्रिका में इस धारणा को भी फलाकार किया गया है। 'कवि-प्रिया' का केशव अपेक्षाकृत प्रौढ़ है। इस रचना का लक्ष है :—

अलंकार कवितानि के, सुनि-सुनि विविध विचार।
कवि प्रिया केशव करी, कविता को सिंगार।

यह रचना हिन्दी की कविता का अभ्यास करने वालों के लिए और उसी अनुपात में पाठकों के लिए है। केशव रचना को केवल अनायासी नहीं मानते थे अत: उनका काव्य-प्रयोजन, 'शब्द शिक्षा के उद्देश्यों से भरा है। कवि प्रिया की पंक्ति—भूषण बिनु न विराजही कविता बनिता मित्त, प्रसिद्ध है। केशव चाहते थे कि ईश्वर ने शरीर दिया है उसे सजाकर रखना, उसकी शोभा को निरन्तर विकसित करना—यही तो मनुष्य का धर्म है। काव्य मनुष्य का प्रदेय है। उसमें मनुष्य अपनी उपलब्धियों और विकसित रुचियों को संग्रथित करना है। केशव मनुष्य के प्रदय को नकार नहीं सके। इसलिए वे प्रयोगवादी रहे। परम्परा का निर्वाह और प्रयोगों के प्रति रुचि का एक साथ योग हमें तत्कालीन इसी कवि में प्राप्त है। 'रामचन्द्रिका' केशव की एक ऐसी रचना है जिसमें विविध छन्दों का प्रयोग है। भाव छन्दों की खोज करें –यह तो सहज प्रक्रिया है, पर छन्द भावों की खोज करें यह अपेक्षाकृत कठिन कार्य है। रेडीमेड कपड़े को उसके नम्बर के आधार पर मनुष्य उसे खरीद लेता है। इसी प्रकार छन्द भी भावों का सजाव करा लेते है। रामचन्द्रिका के अतिरिक्त उन्होंने सामयिक आश्रय दाता राजा की प्रशस्ति का वर्णन 'वीरसिंह देव चरित्र' में किया है, उसका प्रयोजन है : —

नव रसमय सब धर्ममय, राजनीतिमय मान।
वीर चरित्र विचित्र किय, केशवदास प्रमाण।

अर्थात् रसमय, धर्ममय, नीतिमय, आश्रयदाता के चरित्र का वैशिष्ट इस रचना में है। 'विज्ञान-गीता' केशव के विवेक की प्रौढ़ता को अभिव्यक्ति देती है, इसमें कामायनी की भाँति मनोवृत्तियों का मानवीकरण हुआ है। मनुष्य के विवेक की प्रौढ़ता का केशव के चश्में से देखा गया रूप इस रचना में मिलता है। इसका अन्तिम लक्ष —विवेक और महामोह के युद्ध में विवेक की जीत। जहाँगीरजसचन्द्रिका का भी लक्ष ''रामचन्द्रिका एवं 'वीरसिंह देव चरित' जैसा ही है। इस प्रकार सभी रचनायें एक ही केन्द्र में घूमती है राजाओं की कीर्ति एवं वैभव का वर्णन और उनकी ज्योति, चमक, चमत्कार और सौन्दर्य बोध का विश्लेषण।

प्रयोगवादी कवि

आचार्य केशव के प्रति शुक्ल जी का कथन है—केशव को कवि हृदय नहीं मिला था उनमें वह सहृदयता व भावुकता न थी जो एक कवि में होनी चाहिये। वे संस्कृत साहित्य से सामग्री लेकर अपने पांडित्य और रचना कौशल की धाक जमाना चाहते थे पर इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए भाषा पर जैसा अधिकार चाहिये वैसा उन्हें प्राप्त न था

आचार्य शुक्ल की धाक जम गई थी इसलिए वे किस की धाक का जमना हुआ कैसे देख पाते। उनकी चारणा में सूर और तुलसी की सहृदयता अनुस्यूत थी। इसलिए केशव का यथार्थवादी काव्य परम्पराजन्य युगानुकूल साहित्य कैसे रचना। उन्होंने भाषा का तरल और अनायासी रूप देखा था, तो सामासिक रचना-प्रक्रिया को कैसे स्वीकार करते। शुक्ल जी ने ऐसा वक्तव्य देकर हिन्दी आलोचकों को डरा दिया है कि वे उसमें प्रवेश ही न लें। केशव प्रयोग-वादी कवि थे। भाषा और शिल्प ही नहीं भावों की अभिव्यक्ति के अनेक विधानों में उन्होंने प्रयोग किये हैं, सदियों से चली आती परम्परा से विद्रोह तुलसी भी नहीं कर सके। उनका महत्व परम्परा को ग्रन्थित करने में है—नवीनता में नहीं। केशव के काव्य में अलंकार और रस एक दूसरे से मिले हैं। कहीं-कहीं केशव चमत्कार भीरु हो सकते हैं—पर मात्र वही स्यात् उनके मूल बिन्दु को स्पष्ट नहीं कर सकते। केशव का एक प्रयोग देखिये—

चढ़यो गगन तरुधाइ, दिनकर बानर अरुणमुख।
कीन्हों झुकि झहराइ, सकल तारका कुसुम बिन।

प्रातःकाल का वर्णन यहाँ परम्परा से भिन्न है। बंदर का पेड़ में चढ़ कर उसे हिला देना और सभी फलों का झड़ जाना, उपमान का एक ऐसा प्रयोग है जिसे हिन्दी के प्रयोगवादी कवि सराहेंगे—काव्य शास्त्री नहीं। केशव की सहृदयता देखनी हो तो एक नहीं अनेक स्थल मिलेंगे।

केशव कवि हैं, अध्यापक हैं, शास्त्री हैं, आचार्य हैं, राज दरबारी हैं—अतः इन सबका निर्वाह करते हैं। राज-संस्कृति का निरपेक्ष विश्लेषण केशव में अच्छा अन्यत्र दुर्लभ है। केशव का भाषा पर विशेष अधिकार था। संस्कृत, बुन्देली, अवधी, विदेशी भाषाओं के प्रभाव को आत्मसात किये हुए उन्होंने अपनी विशेष दृष्टि से शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा भी है। लोक-भाषा के मुहावरों को इतने उपयुक्त स्थानों में रक्खा है कि उससे काव्य गौरव में वृद्धि होती है। अनेक ऐसे शब्द हैं जिन्हें केशव ने जन्मा है जैसे—निर्जेच्छया, स्वर्णालपा आदि इन सब का आशय है कि केशव निर्वैयक्तिक कवि थे। अलंकार और अलंकार्य का या वस्तु और उसके गुण को अलग-अलग कर सकने की असाधारण क्षमता उनके पास थी। विद्युत और प्रकाश के सम्मिलित प्रभाव को कहना सहज है पर केवल प्रकाश की, चकाचौंध, तलवार की चमक, व्यक्तित्व की कांति, राजदरबार की संस्कृति विशेष को उनके धारकों से भिन्न मानकर देख पाना एवं उन्हें काव्य संस्कार देना केशव का कार्य था। उन्हें कवि हृदय ही नहीं प्राप्त था उनमें प्रतिभा थी, तभी तो इतनी रचनायें एक साथ लिख सके। भक्तों की श्रेणी और आदर्श की परम्परा में तुलसी को हम भले याद रक्खें पर विशुद्ध कवियों की श्रेणी में और अपने पीछे एक लम्बी परम्परा छोड़ने में केशव का विशेष महत्व है। दुर्भाग्य है कि परम्परावादी होते हुए भी तुलसी परम्परा नहीं छोड़ सके और यथार्थवादी होते हुए केशव की परम्परा दीर्घकाल तक चली। लगता है कि उस समय कवियों के बीच तुलसी का कोई स्थान प्राप्त नहीं रहा होगा। केशव के सम्बन्ध में इस निबंध की सीमायें हैं। हम आलोचकों से कहना चाहेंगे कि वे उनके काव्य का वस्तुपरक मूल्यांकन करें। केशव के प्रयोगों का अध्ययन आज भी प्रयोगशील रचना-प्रक्रिया के लिए उपादेय होगा।

●

प्रतिपत्तिका

अज्ञात मध्यकालीन फागु-कृति-रङ्ग तरङ्ग फागु

डॉ० गोविन्द रजनीश

जैन आख्यानात्मक फागु, जैन उपाख्यानों को उपजीव्य बना कर लिखे गये हैं। इस परम्परा में दो ही आख्यानों की गणना की जा सकती है :—१. नेमिनाथ-राजीमती, २. स्थूलिभद्र-कोशा ये दोनों ही लोक-विश्रुत आख्यान हैं। एक के नायक हैं नेमिनाथ और नायिका है राजीमती। जैन फागुओं का अधिकांश भाग इसी कथा से सम्बन्धित है। यह आख्यान इतना लोकप्रिय हुआ कि कालान्तर में रूढ़ि-ग्रस्त हो गया। इसके भी दो रूप दिखलाई पड़ते हैं : —१. जिसमें नेमिनाथ और राजीमती के विवाह प्रसंग में पूर्व शिवादेवी और समुद्र-विजय का परिचय देकर आख्यान प्रारम्भ किया गया है, २. जिसमें नेमिनाथ के शैशव, यौवन का वर्णन कर, उनके कथा-सूत्र को कृष्ण-कथा से सम्पृक्त कर दिया गया है, तत्पश्चात् विवाह की पारिपार्श्वीय भूमिका तैयार की गई है।

पहले प्रकार की कृतियों का परिवेश इस प्रकार है :—समुद्रविजय और शिवादेवी के पुत्र नेमिनाथ विवाह से अनिच्छा प्रकट करते हैं। तभी वसन्त ऋतु आ जाती है। श्रीकृष्ण और उनकी पटरानियों के साथ नेमिनाथ वसन्त क्रीड़ा के लिए जाते हैं। वसन्त के उद्दीपक परिवेश में काफी अनुनय-विनय के बाद नेमिनाथ विवाह की स्वीकृति दे देते हैं। विवाह की तैयारियां होती हैं। वर के रूप में घोड़े पर सवार नेमिनाथ तोरण पर पहुंच, वध्य हेतु आबद्ध पशुओं को देखकर विरक्त हो जाते हैं। दूसरे रूप में शिवादेवी के चौदह स्वप्नों का उल्लेख करके नेमिनाथ के जन्मोत्सव, सौंदर्य-बोध का परिचय कराया है। तत्पश्चात द्वारिका पुरी की स्थापना और नगरी का वर्णन कराया है। एक रोज विचरण करते हुए नेमिनाथ आयुधशाला जा पहुँचते हैं। शंखनाद और धनुष की टंकार करते हैं, जिससे ब्रह्माण्ड में खलबली मच जाती है। कृष्ण सशंक हो उठते हैं। विवाह की प्रस्तावना बनाते हैं। आगे

की कथा पहले प्रकार रमी हो है इसी दूसरी कोटि में 'रङ्ग तरङ्ग फागु' की गणना की जा सकती है

१. रचयिता :—नेमिनाथ की कथा को आधार बनाते हुए 'नेमिनाथ नव रस फागु' अथवा 'रङ्ग सागर फागु' की काव्य की पद्धति पर 'रङ्ग-तरङ्ग फागु' की रचना तीन खण्डों में हेमविजय द्वारा हुई है :—

कमल विजय विबुध बिबुध मुख्य।
तेहनो सीस मुनि हेमविजय कहि ॥[१]

हेमविजय की गुरु-परम्परा इस प्रकार रही है :—तपागच्छाचार्य विजयदान सूरि > हीरविजय सूरि < विजयसेन सूरि > कमलविजय सूरि > हेमविजय।[२]

२. रचनाकाल :—हीरविजय सूरि १७ वीं शती के प्रारम्भ में विद्यमान थे। इनकी गुरु-परम्परा का उल्लेख रामविजय की कृति 'शांतिनाथ रास' तथा सकलचंद की 'मृगावती' में मिलता है।[३] सकलचन्द्र कृत 'हीरविजय सूरि देश ना सुखेलि' और 'साधु कल्पलता साधु वन्दना मुनिवर सुखेलि' से इस गुरु-परम्परा की पुष्टि होती है।[४] इससे सिद्ध होता है कि 'रङ्ग तरङ्ग फागु' की रचना १७ वीं शती में हुई होगी। कृति की एक प्रति, जो मुनि श्री पुण्यविजय जी से प्राप्त हुई, उसका लेखन काल चैत्र सुदी १५, सं० १६३१ है, इसके प्रति लिपिकार कृष्णदास हैं[५] जो सम्भवतया हेमविजय के शिष्य रहे होंगे। सम्भव है सं० १६३१ ही रङ्ग-तरङ्ग फागु का रचनाकाल है।

३. कृति का तथ्य :—संस्कृत और हिन्दी में छन्दबद्ध यह रचना मिश्र छन्द-योजना में समन्वित और कथानक-रूढ़ियों की दृष्टि से 'नेमिनाथ-नव-रस फागु' की परिपाटी पर रची गई है। प्रत्येक वृत्त के बाद रासक, अन्दोला, फाग आदि छन्द आये हैं। जिन भावों की अभिव्यञ्जना कवि ने संस्कृत वृत्तों में की है, उसी की व्याख्या शेष छन्दों में की है।

प्रारम्भ में कवि ने सरस्वती वन्दना की है। साथ ही सरस्वती के सौन्दर्य-बोध का भी रूपायित किया, परन्तु वह रूपांकन स्थूल और बाह्य होने के कारण निष्प्रभ है। समुद्र-विजय और शिवादेवी का परिचय देते हुए कवि ने शिवादेवी के चौदह स्वप्नों का वर्णन किया है। नेमिनाथ के शैशव की क्रीड़ाओं सज्जाओं का जो संकेतांकन किया है वह मनोवैज्ञानिक तथा अनुभूतिपरक न होने के कारण प्रभावोत्पादक नहीं है। यद्यपि कवि ने नेमिनाथ के अवयव-सौंदर्य का निरूपण अलंकृत शैली में किया है, परन्तु उसके उपमान परम्परागत हैं; दूसरे 'नेमिनाथ नव-रस फागु' से इसके वर्णनों में साम्य है। कृति गठन और वर्णन-शैली की दृष्टि से ये रचनाएँ एक दूसरे के समीप हैं।

पहले कवि ने नेमिनाथ का परिचय, फिर सौंदर्य-बोध वर्णित किया है :—

अरुण अधर झलकंति वर विद्रुमनी कंति।
वांकडी भमहडीए जेहवी धणु हडीए॥
कंबु बिडंबक कंठ रवि जी पिय कलकंठ।
पुनिम चन्द लोए मुख नो मटक लोए[१]

कृष्ण की कथा और कृत्यों का संकेत देकर कवि ने मुष्टिक चाणूर, कंस-वध और जरासंध से त्रस्त कृष्ण के द्वारिका में बसने तक की कथा को चित्रित कर द्वारिकापुरी का 'आँखों-देखा' वर्णन किया :—

> गढमढ मन्दिर ओलि।
> घरि घरि पोढि पोलि।
> रयणना तोरणा ए।
> मणिमत बारणा ए॥
> पूतली ना आरंभ बिठी दीसइ रंभ।
> कुलसला तोरणइए बारणि बारणइए॥[७]

इसके बाद कवि ने नेमिनाथ से आयुधशाला में आने और कमल-नाल की भाँति धनुष को नवाने से लेकर चढ़ाने तक, और तज्जनित परिवेश को वर्णित किया है। उस परिवेश में गरिमा लाने का कवि ने भरसक प्रयास किया है :—

> तिणि नादि शत खंड कूट ए ब्रह्मण्ड।
> मंडल खलभल्याए आखंडल संखि मल्याए॥
> पड हुडिया गिरि तुंग रडवडिया तस शृङ्ग।
> शृङ्ग कँपावता ए बलद धुलावता ए॥[८]

इसी स्थल को विवेच्य फागु का सुन्दर स्थल कहा जा सकता है। तत्पश्चात वसन्ता-गमन से लेकर विवाह की तैयारियाँ और तोरण से लोटने की कथा बहुचर्चित एवं बहुश्रुत है।

इस कवि ने नेमिनाथ के विवाह में तैयार हुए पकवानों की जो तालिका दी है, वह समकालीन विवाहों में प्रचलित पकवानों की परिचायक है :—

> करती मङ्गलगान केलवई सवि एक वान।
> वानगी अतिभलाए, खांडमा खजिलाए॥
> घेबर अत्तर करेवि माँडी सरकी सेवि।
> अमिआना गाडुआ ए रूडा लाडुआ ए॥
> घर घृत धार अखंड माहि मंडोरी खंड।
> पोली पातली ए, केला कातली ए॥
> सरस सालणा पालि शालि दालि घृत नालि।
> साजन जन जिम ए हरि नइ इम गमए॥[९]

कवि ने वसन्त-सुषमा और वसन्त-क्रीड़ा दोनों का ही वर्णन किया है। वसन्त-क्रीड़ा में फाग-क्रीड़ा वर्णित हुई है।[२] वसन्त-सुषमा के रूप में कवि ने जो वसन्त-वर्णन किया है, वह रूढिग्रस्त तथा बचकाना है विवरण प्रस्तुत करना कवि का लक्ष्य रहा है -- -

विकस्या सरस रसाल
बोलई कोकिल बाल ॥
डाल -- डोलविता ए।
विरह जगावता ए॥
नारी अधर ना रंग।
फूल्या सखि नारङ्ग॥[१०]

कहीं-कहीं उक्ति-चमत्कार और यमक-चमत्कार अवश्य प्रदर्शित किया गया है :—

रातडां फूलडां किंशुक किंशुक मुख नो नूर।
वश दिशि सरति केवडी केवडी परिमलपूर॥[११]

परन्तु वसन्त वर्णन कहीं भी निरपेक्ष और मौलिक नहीं है।

रङ्ग तरङ्ग फागु

कल्याण केलिसदनं मदनोन्मदकुम्भिकुम्भ केसरिणम्।
जगदेकशरणमज्जन धामनि नेमिमहमीडे ॥ १ ॥

स्मृत्वा पुस्तकशस्तहस्तकमलां श्रीशारदां सारदां।
नत्वा चात्मगुरुं गुरुं गुणिगुरुं प्रज्ञालचूडामणिम्।
लीलोल्लासि विलास केलि निलयं चेतश्चमत्कारकृत्,
कुर्वे रङ्गतरङ्ग संज्ञमनघं फागं नवं नेमिनः ॥ २ ॥

॥ रासक ॥

सरसति समरसि शमरसि वाणी।
कविकुलकमलदिणंद समाणी।
जे जगि मांहि वषाणी॥
करि कच्छपी बजाडइ वीणा।
नव नव तान मान तस झीणा।
किंनर नर लया लीणा ॥ ३ ॥

करि कंकण मणि किंकणि सारी।
नयन निरूपम कज्जल सारी।
सिरुवरि वेणि समारी॥
हंस णमणि मणि मोती य हारा।
क्रम कजि झांझर रणभरणकारा।
उगलि झालि । ४

सार विशारद जननी जननी
सरसति सति सरस वचननी जननी ।
विरचउ रुचि मुझ मननी ॥
हरि कुल कमल मुकुल दिणइंदं ।
शुभकर करुणाकर सुख कंदं ।
गायस्युं नेमि जिणंदं ॥ ५ ॥

॥ अंदोला ॥

भूमि भामिनी भाल भूषण धणुं विशाल ।
नयर सौरीपुरुए सोहि सुंदरु ए ॥
अभिनव रतिपति रूप राज करइ तिहां भूप ।
समुद्रविजय वरुरा रूप पुरंदरु ए ॥ ६ ॥

तस पटराणी जाण रूपइ रंभ समाण ।
शिवादेवी गोरडी ए गुणमणि ओरडीए ।
इणि अवसरि जगदीश जीव अमर निशदीश ।
सवि सुख विलसतो रा आयु अपूरतोश ॥ ७ ॥

अपराजित जस नाम परिहरि सुरवर ठाम ।
कार्त्तिक वदि दिनु ए बहुल बारसी धनु ए ॥
चविउ ते सुर धन्न शिवादेवी उअरि उपन्न ।
चउद सुपन कह्याँ ए शिवादेवी ते कह्यां ए ॥८ ॥

॥ काव्यम् ॥

कुम्भीन्द्रो वृषभो हरिर्हरिवशा स्रक् शर्वरीवल्लभः ।
सूरः स्वर्गपति ध्वजश्च कलशः पद्माकरः सागरः ॥
रम्ये देवविमान-रत्ननिकरे निधूर्मधूमध्वजः ।
स्वप्नाश्चारु चतुर्दशेति वि शिवया दृष्टाः श्रियेसन्तुवः ॥९॥

॥ फाग ॥

लहि पिहलि परिभमतो मत्तो कुंजर राज ।
वृषभ धवल कंठीख रव वारिय पशु-काज ॥१०॥

पुनरपि पेषइ पदिमनी पदिमनि वासिनी देवि ।
कुसुमदान अवरोहिणी रोहिणीपति निरपेवी ॥११॥

तमहर दिणयर दीपतउ जीपतउ ग्रहगण कंति ।
धयवर प्रवर तिहाँ कणि किंकणि रण झणकंति ॥१२

कलश अमल जन पूरिय दूरिय दुरित दुरंत
पदम सरोवर हंसली हंसलीण जलवंत ॥१३॥

मणि माणिक नो आगर सागर बहु पसरंत।
देव विमान सुरयण नो रयण नो रंड महंत ॥१४॥

धूम रहित विश्वानर निरपीय लीला विलास।
जागिय जगगुरु जननी जननी पूरिय आस ॥१५॥

॥ काव्यम् ॥

एवं स्वप्नवरैरमीभिरर्धैः संसूचितः श्री शिवा—
देवी कुक्षिसरः सरोजक्षदृशः श्यामाभिराम द्युतिः।
पञ्चम्या रजनौ विराजि रजनी रत्नत्रुलौ श्रावणे,
लेभे जन्म जगद्गुरुस्त्रिजगतामानन्द कन्दाऽङ्कुरम् ॥१६॥

॥ रासक ॥

अंकुरियाँ जन मन आणंद, जनम्यो जवि जिन जादव चंद, चंदन शीतल वाणी।
कंपित आसन दानव शासन, जनम्यो जिनपति भुवन विभासन शासन नायक जाणी।१७।

पंचरूप परमेसर वहतो।
सुरवर मेरुशृंगि गहगहतो।
पुहतो परमाणंदि ॥
जिनवर जनम न्हवणनो उत्सव।
करि अक स्वं तिहां नाटिक नव नव।
दानव युवती वृन्दि ॥१८॥

॥ अन्दोला ॥

वृंदारक ना वृंद पाम्या परमाणंद।
जिनमुख निरसता ए मणि परि परिघना ए ॥
जिननी जननी पास जिन नी मूकी वास।
वासवि सवि गया ए मन मां गहगह्याए ॥१९॥

॥ फाग ॥

गह गह्यो जादव राणि य जागिय जनम जिणिंद।
बोलइ मंजुल मंगल मंगल पाठक वृन्द ॥
नाचइ चतुर वारांगना अंगना गान करंति ॥
ढम ढम ढोल न फेरी फेरी फेरी स्मति २०

घरि घरि उच्छलि गूडिय सूडिय वदनमाल
तोरण पूरण कलसतो विलसतौ झाक झमाल ॥२१॥
दुंदुहि अंबर गाजइ वाजइ घरि घरि तूर।
यादव सवि तव हरषीय निरषीय जिन मुख नूर ॥२२॥

॥ काव्यम् ॥

पौरामरैः क्षीरम्भाभिर्दशार्हवरवासवैः ।
श्रिया क्षोरीपुरेणोच्चैः पुरन्दर पुरायिताम् ॥२३॥

॥ रासक ॥

उत्सव करी करइ निज काम।
नेमिकुमार इति अति अभिराम।
नाम थापना जिन नी ॥
मणि माणिक हीरे स्युं जडिउं।
पालणडु प्रभु नु न्ह नडिउं।
घडिउं वर विज्ञानी ॥२६॥

ऊपरि प्रवर झुंबणुं झूंबइ।
तिणि प्रभु दृष्ठि विनोद लकूंबइ।
लूबइं पिक मार्कंद ॥
देव दुष्य ऊपरि ओढण डइ।
मृदुल तलाइ तलि पोढणडइ ॥
पोढइ तिहां यदुचंद ॥२७॥

ऊपरि चतुर चंदरुउ मोहइ।
तिहा पोढ्या परमेसर सोहइ।
सोहग गुण जग साखो ॥
अगुष्ठांमृतरस परि पीतो।
वाधइ जिन दिन दिन दीपंतो।
जीपंतो सुरसाषी ॥२८॥

जडी दडी मणि सुघडी गेडी।
रमलि रामे कडला जिन जेडी ॥
तेडी माय क्रिडावइ।
जिननि मुखि देती बाकडली ॥
जडिइ जडी सुघड वांकडली।
कडली पगि पहिरावइ २९

॥ अन्दोलन ॥

पिहरावइ परभात नव नव भूषण मात।
शिर आरोपती ए टोपी ओपती ए॥
जिननी करी उच्छंग करती नव नव रंग।
मातर माडती ए रमति देषाडती ए॥
पगि घूघर घर घमकार कानि कुंडल झलकार॥
यदुकुल चन्दलो ए अमिय नो बिदला ए।
नान्हो नेमिकुमार चालइ चलणि लगार।
बालक परिवर्यो ए सकल कला वर्यो ए॥३०॥

॥ फाग ॥

वर मुगताफल परबल गल कंदल तसहार।
घर जदु घरि परिभमतो रमतो राम ति सार॥३१॥
मात मात ऊचरतो करतो परमाणंद।
ऊजल पषि गुण साधई वाधइ जिन जिमचन्द॥३२॥
मा आलिगई रंगि स्युं अंगि-सलूणो वीर।
यादव जन मनरंजन अंजन श्याम शरीर॥३३॥

॥ श्लोक ॥

रमणीय गुणश्रेणि रमणीजन रञ्जनम्।
क्रमेण कलयामास पावनं यौवनं जिनः॥३४॥

॥ रासक ॥

जिन क्रम कमल मुकुल दल कोमल।
सरल अंगुली नख वलि निर्मल।
श्यामल रोम सराहुँ॥
साथल कदली थंभ मनोहरि।
कटि तटि लंक पराजित केसरि।
सरस सुकोमल बाहु॥३५॥
पृथुल हृदय श्रीवत्स विभासइ।
अरुण पाणि पुट पदम प्रवासइ।
सासइं जित घनसार॥३६॥
मिली कली जिम हृद दाडिमनी।
दंत श्रेणि सोहइ तिम जिननी।
जननी मन सुषकास॥३७

॥ अंदोला ॥

अरुण अधर झलकंति वर विद्रुमनी कंति।
वांकडी भमहडीए जेहवी धणु हडीए॥
कंबु विडंबक कंठ रवि जीपिय कलकंठ।
पुनिभ चन्द लोए मुख नो मटक लोए॥३८॥

कज्जल जल रोलंब श्यामल वाल प्रलंब।
अष्टमी शशिह रूप भाल मनोह (र) रूप॥
अति उन्नत बिह षंध सम चोरस तनु बंध।
पंकज पांषडीए सोहि आंषडीए॥३९॥

॥ फाग ॥

अषंडी अति अति अणिआलि अ कालीय कीकी जास।
तरुणि म अरुणि म जीहडी लीहडी न हि जगि जास॥४०॥

नासावंश निरूपम उपम जस सुक चांच।
रूप अनोपम जग गुरु गुरु उपम षल पांच॥४१॥

॥ काव्यम् ॥

ललितमूर्त्तिरुदारमुखद्युति—
प्रहसितामृतदीधिति दीधतिः।
अजनि नेमि जिनः श्रितयौवनः
स्मर इवापर मूर्त्तिरभीमदृक्॥४२॥

॥ रासक ॥

इवि अवसरि अवतरिउ वीर मथुरा नगरी साहस धीर।
सीर धारि लघु भाइ बसुदेवि ते सुत सुख कंद॥
आप्पो प्रछन्न वृत्ति आनंद नंद गोपी घर जाई॥४३॥

गोकुल कुल वाधइ बलवंतो।
गोरस रस अति सरस पियंतो।
जयवंतो जगि सूरो॥
पीतांबर वर अंबर वान।
वाइ वांसेली करतो गान।
दान माम परिपूरी ४४

अ न्दोल ।

पूरव प्रेम करेवि तस पामि बलदेव ।
सेवक परिरहिये प्रीति परम वहिए ॥
गिरि तरु सिहरि चडंत अति चपलो बलवंत ।
रमणि करइ घणीए जमुना तरंतिगे ॥ ४॥
आहीरिणी स्युं केलि करइ कान्ह रंग रेलि ।
दहिनी दोहिणीए ढोलइ रमलि भणीए ॥
नाथीय काली नाग जमुना जलि नइ ताग ।
बेहु सहोदरा ए राम दमोदरा ये ॥४६॥

॥ फाग ॥

दामोदर गुण मंदिर सुंदर राम सहाय ।
निज भुज बल गहगहतो पुहतो मथुरा राय ॥४७॥
कंस आगलि बल मोदर दामोदर वर सूर ।
माल प्रवल बल मुष्ठिक मुष्टिक करी चकचूर ॥४८॥
चरण स्युं चाणूर चूरिय पूरिय सिंह नो ध्वान ।
ध्वंस करइ हवि कंस नुं वंस नो दीवो कान ॥४९॥

॥ काव्यम् ॥

कंस ध्वंस श्रवणकरणो रोपदुर्ल्लोपकोपा—
ऽऽटोपा स्फोट स्फुरदहंणाटक श्री जरासंध भर्त्तुः ।
भीते भीतं यदुकुल मगात् पश्चिमाम्भोधिकूले,
दै वणोक्तं भुवनविदितं शिष्टसेरोष्ट्राणटम् ॥५०॥
॥ इति श्री रंगतरंग नाम्नि श्री नेमिनाथ फागे प्रथमं खण्ड ॥१॥

॥ आर्या ॥

महरिस सहस्सलोअण वयणं सुणिऊण तत्थ धणवइणा ।
धण रयण कणयनिचिआ विहिआ बारावईणयरी ॥१॥

॥ रासक ॥

यदुकुल सकल तिहां करिए वसिउं ।
माहो माहि प्रेमरस रसिउं ।
हसिउं जिणइ सुरलोक

नव नव मङ्गल ववर विलास।
तरुणी रमणी दिइ रसि रास।
भास नहिं जिहा शोक ॥२॥
उंचा चैत्य चतुर चित चमकइ।
कनक कलस लस शिखरि झलकइ।
लहइ प्रवर पताका ॥
गोषिर हीरमणी वर आगण।
चन्द्रबिंब ऊग्यां गयणांगणि।
तिणि पुरि अहिनिशि राका ॥३॥

॥ अन्दोला ॥

गढ मढ मंदिर ओलि।
घरि घरि पोढि पोलि।
रयणना तोरणां ए॥
मणिमत बारणा ए॥
पूतली ना आरंभ बिठी दीसइ थंभ।
कलसला तोरणइ ए बारणि बारणइ ए॥४॥

अभिनव सोवन वान छांजइ छयल जुवान। (हु
सोगठडां रमए इणि परि दिन गमए॥
कनक कुंभ शिर लेवि पाणिहारी पणकेवि।
करइ टकोलडीए रूडी गोरडी ए॥५॥

कञ्चण मणि मंडाण कूआ वावि निवाण।
रमलि करइ भली ए हंसला हंसलीए॥
अति मोटो प्राकार कोसीसां झलकार।
रवि शशि बिंबलां ए उग्या अति भलां ए॥६॥

॥ फाग ॥

अति भल पण जोगवता भोगवता वर भोग।
प्रिय प्रेमइं वीनवती युवती जन नो योग॥७॥

पद्मरागमणि भींतडी रातडी अति रंग रोलि।
अभिनव युवती फिरती करती दीसई टोलि॥८॥

भोगि पुरन्दर केनर किंनर परि विलसंति।
हरित महीरुह पावन वनराजी दीसंति॥९॥

काव्यम्

हर्म्यैः सुरम्यैः सुरवेश्मजित्वरैः,
पुरी जनैर्निर्जरराजजित्वरैः ।
दासी वयस्याः पुरतोऽमरावती,
द्वारावतीयं नगरी वरीयसी ॥१०॥

॥ रासक ॥

पूरइ यावक जननी आश । दश विदशार करइ तिहांवास ।
वासवनी परिवीर रिपु कुल कुवलय कोक सहोदर ।
राज करइ तिहां भूप दमोदर । मंदरगिरि जिन धीर ॥११॥
इणि अवसरे सिरि नेमि बाल ।
रमतो पुहतो आयुध साल ।
आल करइ आयुधनीइँ ॥
गदा कदा जे हरि नवि हालइ ।
तेह झबकइ कर घालइ ।
झालइ सारंग धनु नइँ ॥१२॥

॥ अंदोला ॥

नमिउ धनुष ततकाल जिमवर कमल नुं नाल ।
पणच चढ़ावतो ए धनुष बजाउतो ए ॥
पुनरपि त्रिभुवननाथ शंख लिइ निज हाथि (थ) ।
मुख स्युं पूरतो ए ध्वनि जगि पूरतो ए ॥१३॥
तिणि नादि शत खंड कूटु ए ब्रह्मण्ड ।
मडल षल भल्याए आखंडल सवि मिल्या ए ॥
षड हडिया गिरि तुंग रडवडिआ तस शृङ्ग ।
शृङ्ग कम्पावता ए बलद धुलावता ए ॥१४॥
ठलठलिआ कैसालि झलहलिया जलराशि ।
रासडां त्रोडती ए महिषी त्राडतीए ॥
सलसलिआ उरगिंद टलवलिआ रविचन्द ।
तारा तडतड्यां ए नहयलि भडभड्यांये ॥१५॥

॥ फाग ॥

भडभडिआ पञ्चानन काननि करइ विकार ।
नाठिय आठीअ कामिनी कामन करइ लगार १६

सुणिअ सङ्ख रण झणक्यो चमक्यो मनि अत्यन्त
ततखिण तेडिय हलधर श्रीधर इम बोलन्त ॥१७॥

ए स्यो जगि कोलाहल हलधर कहो वृतंत ।
तवि बोलइ लघु बांधव माधव सुणि एकन्त ॥१८॥

प्रभु तुम्ह बांधव रूयडों लहुअडों नेमिकुमार ।
सङ्ख बजाडइ नेहनो तेह नउ ए विस्तार ॥१९॥

नेमिकुमार निज जेडिइ तेडिअ कमलानाह ।
जिन आगिली सुमनोहर हरि लम्बावइ बाह ॥२०॥

वालइ तस भुज जिन किम जिमवर कदली पान ।
वलगउ जिन भुज शाखा शाखामृग परि कान्ह ॥२१॥

जिनपति निज भुज उंचव्यो हींचव्यो नषि चक्रपाणि ।
न नमइ तिणिइं चतुरभुज जिन भुज ते निरवाणि ॥ २॥

॥ काव्यम् ॥

चिन्ता चेतसि मा चतुर्भुज भवान् कार्षीदिमां यच्छिवा-
सूनुर्वीरिमधारिमैकनिलयो राज्यश्रियं लास्यति ।
नासौ राज्यजिघ्रक्षुरस्ति भगवान् योगीन्द्र चूडामणि-
लीला केलिमयी तदा दिविषदामेव न भोगीरभूत् ॥२३॥

॥ रासक ॥

हवि विमासइ हरि धरि प्रेम ।
पाणिग्रहण करइ जो केम ।
नेमिकुमार तो बारू ॥
फल फूले लहिकी वनसपती ।
गह गहतो पुहतो ऋतु नु पती ।
रतिपति करइ विकारू ॥२४ ॥

दश दिश थी विकस्या सवितरुयर ।
झीलइ जलचर मिथुन सवे सरि ।
सर सरोरुहवंती ॥
बकुल मुकुल दल परिमल लीणा ।
भमता भमर रवइ रसरीणा ।
वीणा जिम वाजन्ती २५

कदलि आवलि कदली कद
मह मह करइ फूल मुचुकंद।
कुन्दकली विकसंती ॥
सेवंत्री परिमल पसरंती ।
आपुं भुवन भवन वासंती ।
वासंती विकसंती ॥२६॥

॥ अंदोला ॥

विकस्या सरस रसाल।
बोलइ कोकिल बाल।
डाल डोलावता ए।
बिरह जगावता ए॥
नारी अधर ना रंग।
फूल्या सवि नारंग।
रंग स्युं मधुकरी ए।
तरुतरु तरवरी ए ॥२७॥

करती श्री स्तन पीज मांहि नान्हडिआं बीज।
बीज उरी फली ए फूली सदा फली ए॥
कुसुमि कुसुमि वर भृगं लाल गुलाल सुरंग।
रंग स्युं रान [ज] डां ए दाडिमी फूलडां ए ॥२८॥

गहगहिआ कणबीर मह महिआ जंबीर।
कीर ते रूअडां ए करइ टहूकडा ए॥
पावन पवन प्रकंप करइ कामिनी चंप।
चंपकनी कलीए बाटलीनी कलीए ॥ २९ ॥

तरला ताल तमाल पसरी पाडल डाल।
साल सुहामणा ए पालविआ घणा ए॥
फूली वेलि अमूल (सूल) विकस्यां करणीफूल।
मूल घणु लहि ए मोगरो महि महि ए॥ ३० ॥

परि मलयां पुन्नाग तिहां भमर नो लाग।
राग प्रवाल ना ए फूल जासूल ना ए॥
अरुणि मनु नहि रोके मोड्या सरल अशोक।
लोक मन रातडा ए पानडा रातडा ए ३१

॥ फाग ॥

रातडां फूलडां किंशुक किंशुक मुख नो नूर।
दश दिशि सरति केवडी केवडी परिमल पूर॥ ३२॥
मयण बहु भिरि राषडी द्राषडी फलिय उदार।
अलिकुल संकुल विमणो दमणो विकस्यो सार॥ ३३॥
मलयाचल नो प्रभंजन जन मनि करइ विकार।
मांजरि मांजरि मधुकरं करइ मयण जयकार॥ ३४॥
एक वधू तरु सींचती हींचती ए कर मंति।
तरु तरु रमता वानर नर नारी निरषंति॥ ३५॥
कुसुम गंध अति सुरही विरहीजन मन वाम।
पंथिय पंथ उतावला वावला चाल्या नाम॥ ३६॥
मानिनी मन आनंदन चंदन चरचरु चारु।
नव पल्लव तरु कुसुमिय कुसुमायुध परिवारु॥ ३७॥

॥ काव्यम् ॥

विस्मेरवल्लरिरसालरसालहाली,
सञ्चारिषट चरणचूर्णितचारुचूडम्।
प्रासी सरत्नवर पुण्यपरागरागः
सम्भूषयन् वनमयं समये वसन्तः॥ ३८॥

॥ रासक ॥

इणि अवसरि मधुसूदन रमणी सा मही स ही सवे शिरूवरि मणी।
रमवो मास वसंत पदम पद कडी जडी मनोहर।
उर वर हार विराजिय पयोहर दीहर टोडर लहिकइ॥ ३९॥
करि कंकण चूडी झमि नूपर।
रयण जडण राषडी शिरुपरि।
ऊपरि हीरा फलकइ॥
कुच युग निजित कनक कमंडलु।
श्रवण युगल झलकइ वर कुंडल।
मंडल जिम रवि शशिना॥ ४०॥

॥ अंदोला ॥

मुख शशि मंडलमान तनु सोवन वन वान।
गूथी मींढलीए ढीली अति भली ए

अधर विद्रुम रङ्ग रोल मुखिवा वस्यो तम्बोल
कणय रयण जडीए करिवर मुद्रडीए ॥४१॥
शिरि सींदूर भरंति पिग्रलडी पिग्रल करंति।
अञ्जन रेहडी ए दीहर आँखडीए ॥
बाँहि बिहरया बन्ध्र वन्धुर बाहु बन्ध।
सा वदूक समस्या ए चरणो अति कस्या ए ॥४२॥
चन्दन चरचि शरीर पिहिरि जादर वीर।
त्रिबली वलि भलीए बिसती कांचलीए ॥
कटि मेषल खल कन्ति घीटलडी घटकन्ति।
गलि मोती अडी ए लड लडकइ वडी ए ॥४३॥

॥ फाग ॥

वडी भालिनी फूलडी चूनडी चोलनो रंग।
मस्तकि गोफणो पोढो पोढ्यो जिस्यो भुग्रंग ॥४४॥
गालि झालि झलकइ षरी सषरी फूली ताम।
रण झणकइ पगि पींजण जण मणि जागइ काम ॥४५॥
इणि परिहरिनी कामिनी काम निवास नुंठाम।
करि सिणगार उतावली वावली चाली ताम ॥४६॥
साथ नेमिकुमार छइ मार छइ लइ नहि जाम।
कान्ह बचनि गह गहिली पुहती ते आराम ॥४७॥

॥ काव्यम् ॥

हिम समीर समीरिन मन्मथे,
वरविलास समये समये मधोः।
स्वरमणी रमणीय सखः,
शिवा सुतयुतो रमते स्म रमापति ॥४८॥

॥ रासक ॥

जगगुरु जिन जमलो गोविंद।
साथि लेइ वर रमणी वृन्द।
वृन्दावनि मां पुहुतो ॥
तब हरि रमणी हरिष करेव।
पूजइ प्रथमि मनोभव देव।
देवर सहित रमन्तु ४९

चूआ चंदन चरिच अ चोला।
मिली सेव दइ भंमर भोली।
भोली रमलि करन्ती॥
अलतइ कर रंजिआ सहना।
तिणि अही रही कमलिनी इना।
ऊना नहि लगार॥५०॥

॥ अंदोला ॥

नहिय लगार विलंब जिनवर कर अवलंब।
चिहुँ दिसि मोकली ए भीलइ पंडे (डो) कलीए॥
लाल गुलाल अबीर वासु नेमि शरीर।
चन्दन छांटतीए केसर वांटतीए॥५१॥
कर अही शीतल घोल कुंकम रस रंगरोल।
कम कमोकर करीए मणि सींगी भरीए॥
भेलिअ मृगमद पूर घोलिअ प्रवर कपूर।
झीलणे झीलती ए छंटइ जिनपतीये॥५२॥
हास विलास विकार पीन पयोहर हार।
नाभि दिषालतीए वाकुं निहालती ए॥
जिनपति पाणिग्रह विभीलइ जलपइसेवि।
मोह देषालतीए काम जगाडती ए॥५३॥
सलिल षोभलि नारि छांटी नेमिकुमार।
नाठी उतावली ए पुनरपि ते मिली ए॥
करि अहि नलिनी नाल भरिअ सलिल ततकाल।
मूकई सामहीरा जिन साहनी रही ए॥५४॥ [साही ?]

॥ फाग ॥

रही सवे तें सांकडी वांकडी भमहडी सार।
सवि विचि राष्यो देवर देवरमणी अवतार॥५५॥
सलिल रमलिकर नीकली सांकली नेमिकुमार।
बोलइ वचन सुरंगना अंगना करइं ते विकार॥५६॥
प्रभु परणेवुं मानि न माननी मन वालम्भ।
घरिणी विणसुं सोवन योवन नो आरम्भ॥५७॥
नव भीनुं जिणवर मण रमणी तणइ रे विलास।
जिनपति अती नीरागी रागइ न करइ वास ५८।

भोजाई रढ लागिअ रागिअ वचन चवंति ।
देवर वर इक सुन्दरी सुन्दर सुख इम हुंति ॥५६॥

मौनि रह्या जिन जाणि अ राणिअ हरष धरंति ।
थई रे विवाह सजाई भोजाई मनि घंति ॥६०॥

॥ काव्यम् ॥

तैस्तैर्विलासललितैर्वचनै स्तदीयै—
नार्द्रीकृतं श्रितदयं हृदय यदीयम् ।
नेमिर्विवेश वशिनामधिपः स सत्य —
भामादिभिः परिवृतो नगरी मुरारेः ॥६१॥
इति श्री रंगतरंगनाम्नित श्री नेमिनाथ फागे

॥ द्वितीयं खण्डम् ॥

तृतीयाखाड

। आर्या ।

भामाइ वल्लहहि वल्लहपुरओ निवेइअं सयलं ।
जं नह तुह सहोदर इच्छइ परिणेउमेणत्थि ॥ १ ॥

॥ रासक ॥

सुणिअ वयण नारायण हरषइ
निज नगरी आषी तवि निरषइ ।
परिषइ कन्या जाची ॥
यदु राजा जोइ न अनयरी ।
अनुक्रमि उग्रसेननी कुमरी
अमरी सम जइ याची ॥ २ ॥

जाणा जोसी निपुण तेडावइ ।
वडइ वछेदि लगन गणावइ ।
आणावइ सज्जाई ॥
मड्या मण्डप वड आडंबर ।
पंच वन्न सोहइ तिहां अंबर ।
अबरि लागा जाई ३

॥ अंदोला ॥

लागा जाइ आकाश चीतरिआ आवास।
केसव नी वहू ए केलवइ ते सहू ए॥
सवि यादव सपरिवार आव्या माधव बार।
द्वारावती पुरी ए सघरी नउ तरी ए॥ ४॥

करती मंगलि गान केलवइ सवि एक वान।
वानगी अति भला ए खांडना खाजिला ए॥
घेवर अवर करेवि मांडी मरकी सेवि।
अमिअना गाडुआ ए रूडा लाडुआ ए॥ ५॥

घर घृत धार अखंड माहि मंडोरी खंड।
पोली पातली ए, केला कातली ए॥
सरस सालजा पालि शालि दालि घृत नालि।
साजन जन जिम ए हरि नइ इम गमए॥ ६॥

॥ फाग ॥

इम गमइ सवे अ सुहासिणी हासिणी करइ रे विलास।
मान दिइ यदु कोविद गोविंद हृदय उलास॥ ७॥

एलचि लविंग जायफल श्रीफल फोफल पान।
आपइ पान अडागर नागर जननइ कान्ह॥ ८॥

सूकड केसर छांटणइ वाटणइ मांहि कपूर।
घरि घरि उछव छाजइ वाजइ जय जय तूर॥ ९॥

॥ काव्यम् ॥

जय जयेत्यभिवादि सुरव्रज—
द्विगुणितैर्युवतियुंदभिर्वृत:
उभयतोऽमर चालित चामरो,
जिनवरोऽथ विबोधु मुपेयिवान्॥ १०॥

॥ रासक ॥

गयवर षंधि चढउ जगदीसर।
चमर धारिणी वीजइ चामर।
अमर धरइ शिरि छत्र

॥ रासक ॥

तोरण थी जिन वल्यो विचक्षण।
निसुणि अ राजमिती ततक्षण।
ईक्षण अंसु षिरंती॥
दैव दैव इति वदन वचन कहि।
मूर्च्छी राजिल धरणि डलइ साही।
साहिर सवि विलंपती॥ २०॥

परिअण सवितवि बोलइ बोलइ।
कदली दल वीझणडा ढोलइ।
ढोलइ ऊपरि चंदन॥
सहिअर सवि छंटइ शीतल जलि।
ऊठी हग लहंती कज्जलि।
राजलि करइ आक्रंदन॥ २१॥

॥ अंदोला ॥

आक्रंद करइ ते भूरि भूषण ना वइ दूरि।
पीअल टालती ए नीचुं निहालती ए॥
अडुडं क स्वं (स्यं) शरीर मूकइ कंचुक चीर।
षिण षिण षीजती ए अंसु भीजती ए॥ २२॥

प्रिअतम विरह विषादी करइ काम उनमादि।
चंदन विगमइ ए शूनइ मनि भमइए॥
नेमि नेमि जपि जाप करता विविध विलाप।
प्रिय विरहातुरी ए राजलि कुंअरी ए॥ २३॥

॥ फाग ॥

कुंअरी कहि विण पिअडा हिअडा फाटि न आज।
इम कहि राजलि भोजन भोजन नु नहि काज॥ २४॥

कोकिल करइ टहुकडा ढुकडा काम न बाण।
प्राण हरइ पापियडा वापियडा ए जाण॥ २५॥

मूकइ घडि हीरइ जडी सेजडी रति न करन्ति।
न गमइ सहिअर वातडी रातडी प्राण हरन्ति॥२६॥

सहि मुझ मनि करइ हिम कर मकरकेतु नोवास
स्थिति बांधी मि प्रेमनी नेमिनी हु छु दास २७

दान संवत्सर देइग्र लेइग्र ।
ग्रनुक्रमि कर्म कलुष हरइ विहरइ श्री जिनराज ॥२८॥

॥ श्लोक ॥

ग्रालोकिताऽखिला लोक लोकमोलोक भासुरम ।
क्रमेण केवलज्ञानं जभ्के नेमिजिनेशितुः ॥२६॥

॥ रासक ॥

ग्रनुक्रमि भुवन विभासण भाण ।
जिनपति सकल वस्तु नो जाण ।
नाण लहि वर केवल ॥
समोसरण विरचइ तिहां देवा ।
करता जिनपद पंकज सेवा ।
लेवा शिवसुख निश्चल ॥३०॥

जइ दिष्या लइ जिनपति हाथ ।
राजीमती तवि थंइ !सनाथ ।
नाथ शिष्या लइ सूधी ॥
राजलि तप तप करइ सुहेलु ।
पाप पंक म लटालिय विहलु ।
पिहलु प्रिय थी सीधी ॥३१॥

॥ ग्रंदोला ॥

सिद्धि रमणी वरहार ।
जिनिवर कइ विहार ।
ग्रतिशय भासुरुए ।
नमइ सुरासुरूए ॥
त्रिभुवन जन हितवंत ।
नेमिनाथ भगवंत ।
शंख लांछन धरूए ।
जग मंगल करुए ॥३२॥

यादव कुल श्रृंगार ।
करुणा रस भृङ्गार ।
जग जन तारतो ए ।
महि ग्रलि विहरता ए ॥

जाणि अनि जनि खाण।
समय समय नो जाण।
रैवतगिरि वरू ए।
पुहुतो जगगुरू ए ॥३३॥

॥ फाग ॥

जग गुरु भुवन विभासन अशन (अणसन) करइ परिहार।
सकल कर्म षय पामिअ स्वमिअ शिव सुख सार ॥३४॥

जय जय मयण विहंडण मंडण हरि कुल हार।
रैवत गिरि शिरि भूषण दूषण नहि य लगार ॥३५॥

शुभ सूरति जिनमूरति पूरति जन मन आस।
जिन नामि घरि विमला कमला केलि निवास ॥३६॥

॥ काव्यम् ॥

अजनि यो गिरिनार महागिरेः,
शिरसि मौलिरिवाऽद्भुत वैभवः।
हरि कुलैक विभूषण नेमिनं,
नमन्त मंगल केलि निकेतनम् ॥३७

॥ राग धन्यासी ॥

यादव वंश विभूषण नेमिजिन।
रंगतरंग वर फागबन्ध ॥
जे भणइ जे सुणइ श्रवण भणसु सुहकरं
भजति तं सम्पदा सत्य सथ (सङ्घ)।
यादवंश०। द्रूपद ॥३८॥

श्री तपागच्छ मंडाण विजय दान गुरु,
सूर शिरोमणि ब्रह्मचारी।
तास पट प्रगट गयणंगणि रविसमो,
हीर विजय सूरि विजय कारी ॥ यादव ॥ ३९ ॥

यादव श्री विजयसेन सूरी श्वर सेहरू,
त्रिजग मंगल करु श्रमण राज।
अभिनवो चंद्र गच्छ जलनिही चंदलो
समरता सपजइ सयल काज यादव० ४०

तास गछ सुविहित श्रमणजन मडन
कमलविजय विबुध विबुध मुख्य ॥
तेहनो सीस मुनि हेमविजय कहि,
नेमि जिन वंदंता सयल सुख्य ॥ ४१ ॥
यादववंश विभूषण नेमि जिन ॥

॥ इति श्री रंगतरंग नाम्नि श्री नेमिनाथ फाग ॥

॥ तृतीयं खण्डम् ॥

॥ समाप्तम् ॥ श्री ॥ ६ ॥ : ॥ शुभंवतु

सं० १६३१ वर्षे चैत्र सुदि १५ दनेलखतं ।

कृष्णदास लखतं ॥ पत्तन मध्ये ॥ ६ ॥

सन्दर्भ संकेत

(१) रंग तरंग फागु, ४१ (२) वही० पृ० ३९-४०-४१ (३) जैन गुर्जर कविश्रो तीसरा भाग, खंड १, पृ० ७३६ (४) वही पृ० ७७१-७७२-७७३ (५) सं० १६३१ वर्षे चैत्र सुदी १५ दने लषतं । कृष्णदास लषतं ॥ पत्तन मध्ये ॥ (पुष्पिका, रंग तरंग फागु) ६) रंग तरंग फागु, प्रथम खंड, ३८ (७) वही द्वितीय खंड, ४ (८) वही द्वितीय खंड, १४ (९) रंग तरंग फागु, तृतीय खंड, ५-६ (१०) रंग तरंग फागु, द्वितीय खंड, २७ (११) वही द्वितीय खंड, ३२ ।

वक्रोक्ति और लक्षणा

विजेन्द्र नारायण सिंह

भट्टनायक और कुन्तक ये दोनों आचार्य ध्वनि-सम्प्रदाय की सार्वभौम प्रतिष्ठा के विरोध में उठ खड़े हुए थे । इन दोनो आचार्यो ने शब्दशक्तियों के प्रसंग मे प्रचलित संज्ञा का तिरस्कार किया लेकिन भट्टनायक ने जहाँ अभिधा और भोजकत्व इन तीन शक्तियो की की वहाँ कुन्तक केवल विचित्र-अभिधा की सत्ता मानते हैं [1]

कुन्तक ने काव्य मार्ग में प्रयुक्त होने वाले शब्द और अर्थ पर सूक्ष्म विचार किया है। यहाँ शब्दविवक्षितार्थवाचक तथा अर्थ को सहृदयाह्लादस्वस्पन्दसुन्दर' होना ही चाहिए। ये दोनों अलंकार्य हैं और वक्रता उनकी अलंकृति। वस्तुतः जो शब्द लोक में वाचक रूप से प्रसिद्ध हैं, वे तो काव्य में वाचक है ही, यहाँ वे भी वाचक ही कहलाते हैं, जो अन्यत्र लक्षक और व्यंजक कहे जाते हैं। कुन्तल का कहना है कि पहले प्रकार के शब्द मुख्य रूप से और दूसरे प्रकार के औपचारिक रूप से ही मुख्य कहे जा सकते हैं। इस उपचार के मूल में सभी शब्दों की अर्थ-प्रतीतिकारिता है[2]। इस प्रकार काव्य मार्ग में शब्द और अर्थ की वाचकता और वाच्यता लोक से भिन्न है। इन दोनों का सर्वातिशायी अलंकरण ही वक्रोक्ति है। यह वक्रोक्ति अभिधा ही है, पर प्रसिद्ध अभिधान शक्ति से अतिरिक्त कुछ और ही अभिधा है। इसीलिए इसे विचित्र अभिधा कहा गया है। यह अभिधा वैदग्ध्युक्त भणिति का पर्याय है। "इसके अतिरिक्त जब हम कुन्तक को यह कहते सुनते हैं कि विचित्र अभिधा अलंकृत है तब अलकार को शब्द एवं अर्थ का धर्म मान लेना पड़ता है। इस प्रकार अभिधा भणिति या शब्द-सन्निवेश रूप न होकर शब्द एवं अर्थ का एक धर्म है। अभिधा शक्ति भी शब्दार्थ धर्म ही है, अतः समनियत होने के कारण दोनों एक हो सकते हैं। दूसरा कारण इस विचित्र अभिधा को शक्ति स्वरूप मानने का एक और भी हो सकता है और वह यह कि व्यक्ति विवेक कार महिमभट्ट ने भी अभिधा को ही अलंकारस्वरूप बताया है (अलंकाराणां चाभिधात्मत्व-मुपगतम्, तेषाभंगीभणितिरूपत्वात्)। इस प्रकार इनकी विचित्र अभिधाशक्ति के ही रूप में है" [3] इस प्रकार कुन्तक ने लक्षणा का नाम लेने से अपने को बचाया है।

कुन्तक शब्द की अन्य शक्तियों से परिचित हैं, किन्तु उपचार से वे सबको वाचक ही कह देते है। उपचार लक्षणा ही है। डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी ने उचित ही कहा है कि "जो लक्षणा मानेगा नहीं उसे हक क्या है कि उसके बल पर किसी को कुछ कहे, सुने? दूसरी बात यह भी है कि यदि कुन्तक को लक्षणा स्वीकृत न होती, तो उनके विरोध में कुछ तर्क दिये होते। पर ऐसा कहीं कुछ नहीं है। तीसरी बात यह है कि लक्षण या लक्षणा को उपचारत. वाचक एवं अभिधा कहा जाय, तो इस व्यवहार का क्या प्रयोजन है? प्रसिद्धि या रूढ़ि तो इस प्रकार की है ही नहीं। रूढ़ि एवं प्रयोजन के न होने पर उपचार संभव ही नहीं और जबर्दस्ती की जाय तो वह (नेयार्थ) दोष है। चौथी बात यह है कि यदि लक्षणा कुछ न हो, तो 'उपचरात्तावपि वाचका श्चेव' में उपचार शब्द का क्या अर्थ होगा? पहला पक्ष कुन्तक ले नहीं सकते और दूसरे में मनमानी है। उसके पीछे कोई परम्परा एवं समर्थन नहीं। यह कहना कि लोक में लक्षणा की स्थिति कुन्तक मानते हैं, पर काव्य की चर्चा के प्रसंग में नही, तो प्रश्न है कि 'वक्रोक्तिजीवित' में काव्य-चर्चा का प्रसंग है या नहीं? यदि है तो उसी प्रसग में 'उपचारात्तावपि' कहा गया है। फिर काव्य-चर्चा से बाहर कैसे हुआ? परिणाम यह कि लक्षणा इन्हें माननी होगी।"[5]

वक्रोक्ति के इतिहास में वामन का महत्व इसलिए है कि उन्होंने लक्षणा और वक्रोक्ति का स्पष्ट सम्बन्ध निर्देश किया। लक्षणा पाँच प्रकार की होती है। लेकिन वामन ने केवल सादृश्य लक्षणा से वक्रोक्ति का सबंध माना है

साहश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति का० सू० वृ० ४ ३।८

वामन स्पष्टत: कहते हैं कि लक्षणा के अनेक कारण होते हैं, लेकिन उनमें सादृश्य से की गई लक्षणा ही वक्रोक्ति है 'बहूनि हि निबन्धनानि लक्षणायाम् । तत्र सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति रसाविति[6] (वृत्ति)। इस पर टिपणी करते हुए डॉ० राघवन् ने उचित ही लिखा है कि जो लोग सभी सुन्दर अभिव्यंजनाओं को वक्रोक्ति में अन्तर्भुक्त करना चाहेंगे वे न केवल सादृश्यलक्षणा बल्कि सभी प्रकार की लक्षणाओं को वक्रोक्ति के उद्‌भव में सहायक मानेंगे। जब अभिधामूला ध्वनि भी वक्रोक्ति में समाविष्ट की जा सकती है, तब यह कहा जा सकता है कि सादृश्येतर लक्षणाएँ भी वक्रोक्ति हैं[7] ।

भोज ने कदाचित वामन की त्रुटि पकड़ ली थी। 'शृङ्गार प्रकाश' के 'सप्तम-प्रकाश' में भोज ने अभिधा, लक्षणा और गौणीवृत्तियों पर विचार किया है। लक्षणा को परिभाषित करते हुए वे कहते हैं कि लक्षणावृत्ति ही विदग्ध वक्रोक्ति का जीवित है :

अभिधेया विनाभूत प्रतीतिर्लक्षणेति या।
सैषा विदग्धवक्रोक्तिजीवितं वृत्तिरिष्यते ।।७

भोज ने स्वयं इस प्रसंग में इतना ही कहा है। उन्होंने कदाचित् इसे पल्लवित करने की आवश्यकता ही नहीं समझी हो। भोज का तात्पर्य किस लक्षणा— विशेष से है उन्होंने इसे स्पष्ट नहीं किया। उनका मन्तव्य शायद यह है कि वक्रोक्ति सामान्य का ही प्राण लक्षणा है। लक्षण और लक्षित लक्षणा के सभी भेद-उपभेद का विवरण देकर भोज कहते हैं कि कवि की उक्तियों में सभी प्रकार की लक्षणाएँ मिलती हैं। भोज के अनेक उदाहरण वे ही हैं, जो आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में लक्षणामूला ध्वनि के रूप में दिया है। निश्चय ही ऐसे सभी उदाहरणों में सादृश्यमूला लक्षणा की ही प्रचुरता है, लेकिन भोज का तात्पर्य उक्त कारिका में सभी प्रकार की लक्षणाओं से है। यह आकस्मिक नहीं है कि इसी श्लोक मे कुन्तक के प्रसिद्ध ग्रन्थ का नाम भी आया है।

उक्त श्लोक में भोज का तात्पर्य केवल सादृश्यमूला लक्षणा से ही नहीं है, इसकी पुष्टि रत्नेश्वर की टीका से भी होती है : सय्या नामक शब्दालंकार पर विचार करते हुए भोज ने (सरस्वती कंठाभरण) द्वितीय परिच्छेद में उसके एक भेद 'प्रकीर्ण घटना' का उल्लेख किया है। इस पर विचार करते हुए भोज मुख्या, गौणी और लक्षणा वृत्तियों का उल्लेख करते हैं। इस पर टिप्पणी करते हुए रत्नेश्वर ने भोज के उक्त श्लोक को उद्धृत किया है। वे भी यहाँ लक्षणा से केवल सादृश्यमूला नहीं, प्रत्युत सभी प्रकार की लक्षणाओं को ही ग्रहण करते हैं।

तदुक्तम्—

'अभिधेया विनाभूत प्रतीतिर्लक्षणेति या।
सैषा विदग्ध वक्रोक्ति जीवितं वृत्तिरिष्यतं।
सा द्विधा—शुद्धा लक्षित लक्षणा च।'[8]

तत्पश्चात् रत्नेश्वर ने 'श्रृङ्गार-प्रकाश' का सारांश देते हुए भोज के उदाहरणों को उद्धृत किया। उसी प्रकार भोज बतलाते है कि विरुद्ध लक्षणा में परुषदोष गुण ही बन जाता है। इस पर भी टिप्पणी करते हुए रत्नेश्वर भोज के उक्त श्लोको को भ्रष्ट रूप में उद्धृत करते हैं।

तदाहु—

अभिधेया बिनाभाव प्रतीतिर्लक्षणेति या।
सैषा काव्ये दग्धवक्राजीवितं वृत्तिरिष्येत ।।९

इससे यह स्पष्ट होता है कि भोज ने सभी प्रकार की लक्षणाओं को वक्रोक्ति का प्राण कहा है।

भोज से बहुत ही परवर्त्ती आचार्य शारदातनय ने भी भोज के उक्त श्लोक का यही अर्थ समझा है। भोज के साहित्य-संबंधी मतों का संक्षिप्त समाहार प्रस्तुत करते हुए उन्होंने उनके उक्त श्लोक को यों उद्धृत किया है।

अभिधाया बिनाभूत प्रतीतिर्लक्षणोच्यते।
सैषा विदग्धवक्रोक्तिजीवितं वृत्तिरिष्यते ।।
क्रोशन्ति मंचा इत्यादौ सा वृत्तिरवगम्यते।
लक्ष्याभाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौण ता ।।१०

शारदातनय यहाँ लक्षणा को 'वक्रोक्ति मञ्चाः' द्वारा उदाहृत करते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि भोज का मतलब यहाँ सभी प्रकार की लक्षणाओं से है। राघवन् ने बतलाया है कि बहुरूप मिश्र ने शारदातनय के उपरिउद्धृत अंश को दोहराया है[१२]। वे भोज के 'विदग्ध- वक्रोक्ति' वाले उक्त श्लोक को भी उसी तरह उद्धृत करते हैं। इस प्रकार भोज ने वामन के मत की त्रुटि का परिमार्जन किया है।

'अलंकार-रत्नाकर' में लक्षणा को 'काव्य जीवितायमान' कहा गया है[१३]। भोज ने तो निर्भ्रान्त रूप से कहा कि लक्षणा काव्यजीवित (वक्रोक्ति) का भी जीवित है। चन्द्रलोक-कार जयदेव ने बतलाया है कि शब्द, पदार्थ, वाक्यार्थ, संख्या, कारक एवं लिंग में रहने वाली लक्षणा का ही अंकुरण अलंकार है।

शब्दे पदार्थे वाक्यार्थे संख्यायां कारके तथा।
लिङ्गेचेयमलङ्काराङ्कुरबीजतया स्थिता ।।९।।१६।।

कुन्तक ने वाक्यवक्रता में ही सभी अलंकारों को अन्तर्भुक्त कर लिया है। इस प्रकार कुन्तक ने यद्यपि लक्षणा का नाम नहीं लिया है, किन्तु लक्षणा उनकी वक्रोक्ति की आधार-शिला रही है। वक्रोक्ति के इतने उदार अर्थ में प्रयोग का विस्तार ही तो 'वक्रोक्ति-जीवित' है।

डॉ० हरिश्चन्द्र शास्त्री ने [१४] एक स्थान पर इसी भक्ति (लक्षणा) को वक्रोक्ति से अभिन्न मानते हुए बताया है कि कुन्तक का वक्रोक्ति सम्प्रदाय भक्ति-सम्प्रदाय के भी नाम से

प्रसिद्ध है। उन्होंने भाक्त-सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक कुन्तक को ही माना है। तब सहज ही यह प्रश्न उठता है कि कुन्तक ने लक्षणा से बचने का प्रयास क्यों किया है? उन्होंने उपचार वक्रता पर विचार करते हुए एक विलक्षण बात कही है। इससे वक्रोक्तिवाद को बल मिलता है। उपचार सादृश्यमूलक गौणी लक्षणा से घटित होता है। किन्तु सभी सादृश्यमूलक गौणी लक्षणायें उपचार नहीं हैं। थोड़ा सा अन्तर होने पर इस उपचार में वक्रता का व्यवहार नही होता है।[१५] 'गौर्वाहीक:' अर्थात् वाहीक देशवासी पुरुष गाय के समान मूर्ख या सीधा होता है। यहाँ वाहिक के लिए 'इस शब्द का प्रयोग सादृश्यमूलक गौणी लक्षणा से होता है। परन्तु इस प्रकार के चमत्कारहीन उदाहरणों में उपचारवक्रता नहीं होती है। इस प्रकार कुन्तक ने अपने वक्रोक्तिवाद के पृथक अस्तित्व की उद्भावना को ठोस शास्त्रीय आधार प्रदान करते हैं। उनकी वक्रोक्ति लक्षणाश्रित होकर भी लक्षणा से पूरी तरह बद्ध नही है। उसके सञ्चरण के अनेक क्षेत्र लक्षणाचक्र से परे भी हैं।

संदर्भ-संकेत

(१) हिन्दी वक्रोक्ति जीवित १।।६।। (२) 'यस्मादर्थ प्रतीतिकारित्वसामान्यादुपचारात्तावपि वाचकावेव।' [वही : पृ० ३७] (३) डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी : लक्षणा और हिन्दी काव्य में उसका प्रसार; पृ० ६१-२। (४) लक्षणा और हिन्दी काव्य में उसका प्रसार : पृ०६२। (५) काव्यालंकारसूत्र वृत्ति : अनुवादक आचार्य विश्वेश्वर : वृत्ति ४।।३।।८।। (६) भोज का शृङ्गार प्रकाश (अंगरेजी प्रबन्ध) पृ०१२६। (७) शृङ्गार प्रकाश, प्रथम भाग : पृ० २२३। (८) सरस्वती कंठाभरण (काव्यमाला) : पृ० १८६। (९) वही : पृ० १३३। (१०) भाव प्रकाश (गायकवाड) : पृ० १४५। (११) भोग का शृङ्गार प्रकाश (पाद टिप्पणी में) : पृ० १३० (१२) डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी : लक्षणा और हिन्दी काव्य में उसका प्रसार : पृ० ४४५। (१३) ध्वनि-सम्प्रदाय और उनके सिद्धान्त : पृ० २७७। (१४) हिन्दी वक्रोक्ति जीवित : पृ० २२६।

●

भारतेन्दुकालीन हिन्दी-पत्र 'भारतबन्धु'

●

डॉ० गोपाल बाबू शर्मा

हिन्दी-साहित्य के विकास में पत्र-पत्रिकाओं का बड़ा योग रहा है। भारत में हिन्दी १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में मुद्रण-कला के प्रचार के साथ प्रचलन में आई,

किन्तु उनका समुचित विकास १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध अर्थात् भारतेन्दु-युग में हुआ। हिन्दी गद्य के निर्माण, विकास तथा संवर्द्धन के लिए भारतेन्दु जी ने स्वयं 'कवि-वचन-सुधा' (१८६८ ई०) तथा हरिश्चन्द्र मैगजीन (१८७३ ई०) का प्रकाशन किया। उनसे प्रेरणा एवं प्रोत्साहन पाकर उनके मित्रों तथा सहयोगी लेखकों द्वारा भी पत्र-पत्रिकाओं की सख्या में वृद्धि हुई। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्पष्ट लिखा है कि पचीस पत्र-पत्रिकाएँ तो भारतेन्दु जी के जीवन-काल में ही निकलीं।

भारतेन्दु युगीन पत्र-पत्रिकाओं में अधिकतर सामाजिक और राजनैतिक विषयों पर लेख छपा करते थे। वैसे पत्रों के सम्पादक अपने पाठकों को सभी विषयो की कुछ-कुछ जानकारी देना चाहते थे, साहित्य उन विषयों में प्रधान था। इन पत्र-पत्रिकाओं का प्रमुख ध्येय जनता को देश की दशा के प्रति सजग बनाना तथा प्राचीन रूढ़ियों को तोड़ कर उनके हृदय में नवीन विचारधारा को उत्पन्न करना था।

भारतेन्दु-युग में सामाजिक, धार्मिक, साहित्यक, शिक्षा, सम्बन्धी तथा राजनैतिक आन्दोलनों के फलस्वरूप पत्र-पत्रिकाओं की संख्या में वृद्धि हुई, किन्तु आर्थिक दुरवस्था के कारण उनका प्रसार अधिक नहीं हो सका। जनता में शिक्षा तथा सुरुचि का अभाव होने से पत्र-पत्रिकाओं में साहित्यिक सौन्दर्य भी कम ही रहा।

१९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी की जो पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं, उनमे 'भारत-बन्धु' भी था। इस पत्र का प्रकाशन सन् १८७७ ई० से प्रारम्भ हुआ। इसके प्रकाशक एव सम्पादक अलीगढ़ के बाबू तोताराम वर्मा वकील थे। यह पत्र साप्ताहिक था तथा प्रत्येक शुक्रवार को प्रकाशित होता था। पत्र किन-किन विषयों से विशेष रूप से सम्बद्ध था, यह प्रथम पृष्ठ पर मुद्रित इस वाक्य से स्पष्ट है :—

A weekly journal of literature, science News and politics etc.

पत्र के प्रथम पृष्ठ पर संस्कृत तथा हिन्दी में निम्नलिखित 'मोटो' भी छपते थे—

गमयतु जनमोहं सच्चिदानन्द रूप: । वितरतु भवमुक्तिं वासना संघ ताप: ।।
स भवतु मम पत्र ग्राहिणां विश्वगोप: । प्रहैरतु हृदयस्थध्वान्तसन्त: प्रदीप: ।।

विद्या बुधि नय नीति मय पावन परम उदार ।
दिन दिन भारत बन्धु यह करहु देश उपकार ।।

आरम्भ में 'भारत बन्धु' न्यूमेडीकल हाल प्रेस, बनारस से छप कर आता था और फिर अलीगढ़ से ग्राहकों के पास भेजा जाता था। इसमें बड़ी कठिनाई होती थी। सितम्बर, १८७८ ई० में बाबू तोताराम जी ने अलीगढ़ में 'भारत बन्धु' नामक निजी प्रेस खोल लिया। तब से यह पत्र इसी प्रेस में छपने लगा।

इस पत्र का आकार ११½" × ३½" था। पहले यह आठ पृष्ठों में प्रकाशित होता था तथा प्रत्येक पृष्ठ सामान्यत: तीन कालमों में विभाजित रहता था। १ सितम्बर सन् १८८२ ई० से इसके पृष्ठों की संख्या से बढा कर १२ कर दी गई जिसमें ६ पृष्ठ हिन्दी के लिए निश्चित थे तथा ६ पृष्ठ हिन्दी-अंग्रेजी के लिए

पत्र का मूल्य

भारत ब धु का वार्षिक मूल्य साढ़े सात रुपए तथा एक प्रति का मूल्य तीन आने था। प्रसिद्ध पुस्तकालयों तथा स्कूल के विद्यार्थियों को यह आधे मूल्य में प्राप्त होता था, किन्तु राजा-महाराजाओं को साधारण मूल्य की अपेक्षा दुगुना देना पड़ता था।

सम्पादकीय टिप्पणियाँ :

भारतबन्धु के प्रायः हर एक अंक में सम्पादकीय टिप्पणियाँ प्रकाशित हुआ करती थीं। ये टिप्पणियाँ समाज-सुधार, ज्ञान-विज्ञान, साहित्य, राजनीति आदि विभिन्न विषयों से सम्बन्ध रखती थीं।

लार्ड लिटन के भारत छोड़ने पर 'भारतबन्धु' के २१ मई, १८८० ई० के अंक मे 'श्रीमान् लार्ड लिटन का राज्याधिकार त्यागना' शीर्षक से एक सम्पादकीय टिप्पणी छपी थी। प्रसंगवश उसमे यह लिखा गया था कि बहुत से लोग लार्ड लिटन को यह दोष देते है कि उन्होंने प्रेस एक्ट जारी किया, किन्तु प्रेस एक्ट से देश को कोई हानि नहीं हुई। यह तो हमारे शील को सुधारने की सहज युक्ति निकल आई, क्योंकि हमारे स्वदेशी पत्रों में ऐसी-ऐसी भद्दी बातें लिख दी जाती थीं कि विदेश के लोग हमारी विद्या और बुद्धि पर आक्षेप करते थे। कलकत्ते से प्रकाशित 'सार-सुधानिधि' पत्र को यह बात बहुत बुरी लगी। प्रतिवाद स्वरूप उसने 'भारतबन्धु की अदूरदर्शिता' नामक एक लम्बा लेख [१४] लिखा।

इस विवाद के अन्त में 'भारतबन्धु' ने 'सार-सुधानिधि की स्वाभाविक सौम्यता' शीर्षक से लिखा था—"....आपको मेरे लेख से विदित हुआ हो या न हुआ हो, परन्तु अब मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि प्रेस एक्ट का मैं पक्षपाती या अनुमोदन करने वाला नहीं हूँ। मैं उसको एक दृष्टि से देखता हूँ, आप उसको एक और दृष्टि से देखते हैं कौन सा मनुष्य होगा जो स्वतन्त्रता की अभिलाषा नहीं रखता और दत्त स्वतन्त्रता का छिन जाना किसको बुरा नहीं लगता...."[१५]

इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि भारतेन्दु युग में पत्र-पत्रिकाओं के प्रति सरकार का रुख अच्छा नहीं था। कानूनी जाल में न फँसना पड़े, इसलिये सरकार की आलोचना प्रायः हास्य-व्यंग के माध्यम से की जाती थी। पत्रों की यह भी नीति थी कि सभी कुछ कह डालने के बाद थोड़ी प्रशंसा भी कर दे। कभी-कभी धुन में आ कर पत्रकार बिना लाग-लिपट के भी अपनी बात कह देते थे, किन्तु इसमें हानि उठाने की आशंका बनी रहती थी। 'भारतबन्धु' के सम्पादक बाबू तोताराम वर्मा में देश-भक्ति की कमी नहीं थी, किन्तु वे यह भी नहीं चाहते थे कि व्यर्थ ही सरकार के कोप-भाजन बनें और परेशानी उठाएँ। अतएव वे मूलतः देश-भक्ति का प्रतिपादन करने के साथ-साथ राज-भक्ति को भी प्रदर्शित करते रहे। लार्ड लिटन की प्रशंसा और सामान्य रूप से किए प्रेस एक्ट के अनुमोदन के मूल में सम्भ तः यही बात थी, जिसे 'सार-सुधानिधि' ने नहीं समझा।

साहित्यिक रचनाएँ :

'भारतबन्धु' में लेख, कविता, उपन्यास आदि विभिन्न साहित्यिक रचनाएँ छपती थीं। पंडित शालग्राम कृत 'मालती-माधव की कथा' तथा मुहम्मद शेर खाँ की लिखी 'कीर्ति-चन्द्रिका' नामक कथा 'भारत-बन्धु' के अंकों में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुई थी।

वृन्दावन के श्री राधाचरण गोस्वामी 'भारतबन्धु' के प्रमुख लेखकों में से थे। 'उपन्यास' शीर्षक लेख, बंगला से अनूदित 'विराजू बहू' उपन्यास आदि रचनाओं के अतिरिक्त 'समाचार गुप्त नहीं रहते', 'व्यापार सम्बन्धी लोहे के बाँट', 'गोस्वामी नाटक कम्पनी', 'वर्णमाला के अक्षरों के उदाहरण', 'देशोपकार के लिए साधारण कोष', 'फर्रुखाबाद को रेल', आदि शीर्षकों से सम्पादक के लिए लिखे गए उनके विविध विषयक पत्र भी 'भारत-बन्धु' में प्रकाशित हुए थे।

समालोचना :

'भारतबन्धु' में पुस्तकों के प्राप्त होने की सूचना तथा साधारण रूप में उनकी समालोचना भी प्रकाशित की जाती थी, जैसा कि इन निम्नलिखित पंक्तियों के ज्ञात होता है।

हमारे परम मित्र मुकुन्दराम मित्र विलास सम्पादक की भेजी हुई 'भारतवर्ष की विख्यात नारियों के जीवन चरित्र' नामी पुस्तक हमको प्राप्त हुई। धन्यवादपूर्वक हम उसको स्वीकार करते हैं। ....हमने उसको आद्योपान्त नहीं देखा। इस हेतु इस सप्ताह में उसकी समालोचना प्रकाशित नहीं कर सकते, परन्तु इतना हम कह सकते है कि विषय और लेख अवलोकन करने से प्रकट में तो पुस्तक उत्तम मालूम देती है।"[६]

समाचार :

'भारतबन्धु' पत्र में समाचारों को भी स्थान मिलता था। ये समाचार निम्नलिखित रूपों में छपते थे।

१. समाचार पत्रों का संक्षेप—इस स्तम्भ के अन्तर्गत अन्य अखबारों से समाचार लेकर उन्हें संक्षेप में प्रस्तुत किया जाता था।

२. अखबारों की छाँट - इस शीर्षक के अन्तर्गत दूसरे अखबारों की खबरों को 'भारतबन्धु' में छापा जाता था।

३. समाचारावली तथा तार की समाचारावली—'भारतबन्धु' में कुछ समाचार अंग्रेजी और हिन्दी दोनों में एक साथ छपते थे। पृष्ठ दो कालमों में विभक्त रहता था। प्रथम कालम में जो समाचार अंग्रेजी में छपते थे, वे ही समाचार दूसरे कालम में सामने हिन्दी में भी छपते थे अंग्रेजी में इसके शीर्षक समरी ऑफ न्यूज तथा टेलीग्राफिक-न्यूज थे हिन्दी में क्रमशः इनका नाम था तथा तार की ी

में प्राय देश से सम्बंधित समाचार रहते थे　तार की　　　　में विदेशों से संबंधित समाचारों को प्रकाशित किया जाता था।

४. स्थानीय समाचार—देश-विदेश के समाचारों के अतिरिक्त 'भारतबन्धु' में स्थानीय समाचार भी छापे जाते थे।

जैसे—अलीगढ़ नुमाइश गृह।

बाजार और बरस की ही चाल-ढाल पर बनाया गया था सिर्फ उसमें यह विशेषता पाई गई कि और बरस तो दुकानों के ऊपर सिरकी डाली जाती थी। परन्तु इस बार कपड़े से भी मढ़ी गई थी इसके सिवाय और बरस की अपेक्षा दुकानें खाली नहीं रही और अब के चीज भी कीमती-कीमती बिकने को आईं।

×　　×　　×

और बरस में तो यहां घोड़े और हाथियों को ही दौड़ होती थी अब के ऊंट भी दौड़ाये गये।"[७]

विज्ञापन :

'भारतबन्धु' में विज्ञापन भी छपते थे, किन्तु इनमें भारतबन्धु प्रेस तथा भारतबन्धु के सम्पादक व प्रकाशक बाबू तोताराम जी द्वारा लिखित पुस्तकों के विज्ञापन ही अधिक होते थे।

'भारतबन्धु' के ६ मई, १८८१ ई० के अंक में जो विज्ञापन-संबंधी नियम छपे थे, वे इस प्रकार थे—

"पूरा पेज (सफा)　पहली बार　१०)　पीछे ६)　सप्ताह
आधा सफा　　,,　　५)　,,　३)　,,
चौथाई सफा　　,,　　३)　,,　१॥)　,,

यदि चौथाई सफे से विज्ञापन कम हो तो पहली बार ≡) प्रति पंक्ति पीछे =) प्रति पंक्ति प्रति सप्ताह लिये जायेंगे परन्तु रुपये १) से कम किसी विज्ञापन को नहीं लिया जावेगा।"[८]

भारतेन्दुयुगीन पत्र-पत्रिकाओं के सामने आर्थिक कठिनाइयाँ बहुत थीं। या तो लोग ग्राहक ही न बनते थे और यदि बन भी जाते थे, तो समय पर चन्दा न भेजते थे। फलतः पत्र घाटे में चलता था। 'ब्राह्मण' पत्र के सम्पादक पं० प्रताप नारायण मिश्र को तो चन्दे के लिए इस प्रकार याचना करनी पड़ती थी—

आठ मास बीते जजमान।
अब तो करो दक्षिणा दान

"....प्रिय बन्धो ! आजकल इस देश के भरोसे पर कोई काम नहीं चल सकता यहाँ के निवासी स्वदेश की भलाई में व्यय करना नहीं जानते इनको तो मूर्खता और चापलीसी में व्यय करना भली-भाँति आता है। हम जितने राजा महराजा रईस और धनिक लोगो की सेवा में गये सब स्थान आदर और श्रद्धा से शून्य पाये। आपका तो महाराणा उदयपुराधीश ने कुछ सत्कार भी किया हमसे तो किसी राजा या महाधनी का सादर स्पर्श भी नहीं हुआ। यह वह देश है जिसका नमस्कारपूर्वक परित्याग करना चाहिये, आपको विदित होगा कि यदि मेरे स्वामी मुझको केवल निजाश्रय पर सजीव रखते तो मुझको भी धीरज छोड़कर अन्तर्ध्यान होना पड़ता। अनेक सहस्र मुद्रा मेरी मुद्रण सामग्री संग्रह करने में व्यय हुए और जन्मावधि से आज तक असंख्य धन हानि हुई और आगे होने की सम्भावना है, और न किसी ने हमारी विशेष सहायता की और न आगे कुछ आशा है, तथापि हमने उत्साहहीन होना उचित न समझा है।...."[९]

बाबू तोताराम जी एक धनाढ्य तथा साहित्य-सेवी व्यक्ति थे, अतः वे घाटा सह कर भी 'भारतबन्धु' को निकालते रहे, किन्तु ऐसा कब तक सम्भव था ? बाबू तोताराम जी के मित्र श्री मुन्नीलाल जी वकील के कथनानुसार। [१०] 'भारतबन्धु' को दस हजार रुपये से भी अधिक की हानि उठानी पड़ी और वह अपने तेरह वर्षीय जीवनकाल के पश्चात् सन् १८९० ई० में बन्द हो गया।

संदर्भ-संकेत

(१) आठ अंकों के पश्चात् 'हरिश्चन्द्र-मैगजीन' का नाम 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' हो गया था (दे० हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, सं० २०० वि०, पृष्ठ ४५९)। (२) हिन्दी साहित्य का इतिहास, स० २००३ वि०, पृष्ठ ४५६-४५७ (३) 'भारतबन्धु' पत्र अब अप्राप्य सा है। भारी खोज के पश्चात् लेखक को इस पत्र के कुछ अंक श्री अद्वैत चरण गोस्वामी के निजी पुस्तकालय, वृन्दावन में देखने को मिल सके (४) सार-सुधानिधि, ३१ मई, १८८० ई०, पृष्ठ ८८-९० (५) भारतबन्धु, १८ जून १८८० ई०, पृष्ठ ३ (६) भारतबन्धु, १८ जून, १८८० ई०, पृष्ठ १ (७) भारतबन्धु, १० मार्च, १८८२ ई०, पृष्ठ २ (८) भारत-बन्धु, ६ मई, १८८१ ई०, पृष्ठ ८ (९) सार-सुधानिधि १२ अप्रैल, १८८० ई०, पृष्ठ ४ (१०) श्रीमान बाबू तोताराम का जीवन-चरित्र : मुन्नीलाल वकील, १९०६ ई०, पृष्ठ ३१।

नहुष के टीले की दो दुर्लभ मूर्तियों का मूल्यांकन

एस० एन० प्रसाद

प्रस्तुत अनुसन्धान लेख में नहुष के टीले[१] के पृष्ट तलीय सर्वेक्षण से प्राप्त दो दुर्लभ मृण मूर्तियों के मूल्यांकन का प्रयास किया गया है। इस परिप्रेक्ष्य में इस टीले के सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक है। यहाँ के पृष्ट तलीय सर्वेक्षण से प्राप्त अवशिष्टों के आधार पर स्थल की प्राचीन ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक महत्ता निर्विवाद रूप से प्रमाणित हो जाती है। भारत[२] तथा मध्य एशिया[३] के प्रोटो हिस्टारिक तथा ऐतिहासिक स्थलों में नहुष के टीले ने अपना एक मानक स्थान बना लिया है। नहुष के टीले के विधिवत् उत्खनन से भारतीय पुरातत्व की अनेक ग्रन्थियों के सुलझने की आशा है जो आज रहस्यमय बनी हुई हैं। यहाँ के कतिपय मृदभांड के अवशिष्ट तथा मृण मूर्तियों के आधार पर मध्य एशिया (विशेष रूप से फरगना) से सीधा सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में विषय के पुरातत्वीय स्रोतों के आधार पर यह प्रमाण के साथ कहा जा सकता है कि कुषाण राजाओं के समय सम्पर्क अवश्य था। इस सर्वेक्षण के आधार पर यू-ची नृपों के पूर्व दिशा की ओर साम्राज्य विस्तार की सीमा के विषय में कुछ प्रमाण के साथ कहा जा सकता है कि कम से कम घोसी तक अवश्य रहा होगा। पुरातत्ववेत्ता अलेक्जेन्डर कनिंघम के विशाल परिखा से परिवेष्ठित कौशाम्बी के खोज के बाद नहुष के टीले की खोज इस प्रकार का समग्र उत्तर भारत मे द्वितीय महत्वपूर्ण खोज है। स्थल से प्राप्त सामग्री के अध्यन के आधार पर ईसा से दो सहस्त्र वर्ष उत्तरार्द्ध से लेकर तृतीय शताब्दी खृष्टाब्द तक के इतिहास को अक्षुण्य कड़ियाँ मिलती हैं।

निसन्देह कला के माध्यमों में मृण मूर्ति कलाधनिको के मनोरंजन का माध्यम नहीं कही जा सकती। इसे शाही दरबार तथा श्रीमानों के सम्बल के सुख से वंचित ही रहना पड़ा होगा, किन्तु जनता तथा समाज के विशाल जन संख्या के भावो के व्यक्तीकरण का माध्यम बना होगा। यह कार्य उसकी अपेक्षा निसन्देह गुरुतर है। अधिकों की लाडली मृण मूर्ति कला अपेक्षाकृत निर्धन कुंभकार की कृति है। इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से इसके इतर कला के अन्य माध्यमों की अपेक्षा इसका महत्व अधिक हैं, क्योंकि समाज की जनसंख्या के भावो के प्रतिनिधित्व का माध्यम मात्र यही था। इतिहास की राज-शाही धारा के अतिरिक्त विशाल संस्कृति के प्रवाह का ज्ञान इसी से सुलभ हो सकता है। किसी भी संस्कृति के बहुप्रचलित लोक प्रिय परम्पराओं, धार्मिक पद्धतियों, वेषभूषा आभूषण आदि के ज्ञान के लिये तत्कालीन मृण-मूर्तियों का अध्ययन आवश्यक है क्योंकि यह जनता के धनाढ्य वर्ग की कला नहीं है। भारत के संदर्भ में मृणमूर्तियों का इतिहास काफी प्राचीन है। लगभग प्रत्येक ऐतिहासिक टीले कल

के इस लोक प्रिय संस्करण की विद्या से रहित नहीं है। सैन्धवघाटी के नगरीय सभ्यता से लेकर आज भी इसका प्रचार उसी प्रकार है।

भारत में कुषाण साम्राज्य की स्थापना ने मूर्ति कला के क्षेत्र में एक नये विद्या की स्थापना की। यू० ची० जाति के इस सामाजिक धार्मिक तथा राजनीतिक संपर्क ने गंगा-घाटी के भारतीय मृणकला पर नई परंपरा तथा स्वरूप का उद्घाटन किया[५]। इस सन्दर्भ में कतिपय शक-कुषाण मूर्तियों से सम्बन्धित महत्वपूर्ण स्थलों का उल्लेख आवश्यक है। इनमे नहुष का टीला[६] (आजमगढ़) राजघाट[७] (वाराणसी) मसौन[८] (गाजीपुर) बक्सर (शाहाबाद) सोहगौरा (गोरखपुर)[९]। कुमारहार[१०], वैशाली[११], कसया[१२], सोमनाथ[१३], अहिछत्रा[१४] आदि विख्यात हे।

गंगा घाटी की मुलायम मिट्टी ने मध्य देश की मृणमूर्ति-कला को लोच दी जिसके कारण मृण मूर्तिकला में उसे स्थायित्व तथा महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। पश्चिमी एशियाई देशों के सांस्कृतिक सम्पर्क ने मृण मूर्ति कला को नवीन रूप दिये। इन शक कुषाण पार्थिवन मृण मूर्तियों को तत्कालीन इन्हीं नरेशों के मुद्राओं पर अंकित मूर्तियों को साथ रखकर अध्ययन करना चाहिये। इसमें पुरातत्व तथा नृतत्व वेत्ता का समन्वयात्मक सहयोग आवश्यक है। इस अध्ययन से अनेक जटिल समस्या के समाधान की अपेक्षा है।

विशाल नहुष के टीले के अवलोकन से तथा पृष्टतलीय सर्वेक्षण के अवसर पर प्राप्त अनेक पुरातत्वीय सामग्री के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक सभी विकल्पों से यह स्थल दीर्घकाल तक समृद्ध रहा होगा। इस सर्वेक्षण में दो विदेशी मृण मूर्तियाँ लेखक को प्राप्त हुई हैं। इन मूर्तियों के समीकरण की समस्या कठिन है। अपने पूर्ववर्ती काल की मृण-मूर्तियों से विषय वस्तु, निर्माण शैली तथा अलंकरण प्रसाधन के कथानक की दृष्टि से भिन्न हैं[१५]। इन दो दुर्लभ मृण-मूर्तियों के पा जाने से ऐसा प्रतीत होता है कि रोज़न फील्ड के आशावादी मत कुछ भिन्नता के साथ सत्य है। गंगा-घाटी के यू० ची० साम्राज्य का पूर्वी छोर कम से कम आजमगढ़ (उत्तर प्रदेश) के घोसी तहसील को स्पर्श करता होगा[१६]।

प्रथम मूर्ति

यह एक स्त्री की ऊर्ध्वकाय मूर्ति है। उलूक सम मुखाकृति, चौड़ा माथा, सुन्दर नासिका, भरे हुए गंडस्थल और मांसल ओष्ट है। केश भली प्रकार से संगठित हैं। नेत्र अजसम उभरे हुये हैं। मूर्तिकार ने मूर्ति में भयावह उद्भावना का सृजन सफलता के साथ किया है[१७]।

द्वितीय मूर्ति

यह एक पुरुष का अर्धकाय मूर्ति है। चौड़ा माथा, भरे हुए गंडस्थल, केश अर्धचन्द्राकार शैली में अलंकृत मूनि ध्यानस्थ खंडित नासिका इस आकृति में पुरुषत्व पूर्णरूप से प्रतीत होता है इसम व न क साथ गमीरता है इस मूर्ति के अवलोकन के बाद यह विचार

उठता है कि स्यात उत्तरवर्ती गुप्तकाल ने बुद्ध की मूर्तियों में गम्भीरत्व को यहीं से प्राप्त किया होगा। गुप्तकाल के शिल्पियों को इस स्थिति को चरम तक ले जाने के श्रेय से वंचित नहीं किया जा सकता[१८]। कुछ विद्वानों के अनुसार इस काल की पुरुषाकृतियों में पुरोहितों का अंकन है[१९]। किन्तु पर्याप्त सामग्री एवं उत्खनन की कमी के कारण इस काल की पुरुषाकृतियों के समीकरण की स्थापना एक रहस्यमय पहेली की भांति है[२०]।

इन मूर्तियों के भोंड़पन के कारण इनके विदेश से आने के सिद्धान्त को स्वीकार करने में सन्देह होता है[२१]। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि ये जनता के किसी संकुचित अथवा अधिकांश वर्ग के धार्मिक और सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये स्थानीय कुम्भकार द्वारा निर्मित की गयी होंगी[२२]। यदि इन मूर्तियों का आगमन विदेश से न हुआ होगा तो उन मूर्तियों की भावना निसन्देह वहीं से आई होगी ऐसा प्रतीत होता है कि खृष्टाब्द के प्रारंभिक चरणों में भारतीय कुम्भकार ने मध्य देश में कम और अधिक मात्रा में मृण-मूर्ति के निर्माण के क्षेत्र में नवीन प्रयोग प्रारम्भ कर दिये थे[२३]।

पूर्ववर्ती कुषाण काल में इस प्रकार का कथावस्तु तथा भावना के पूर्ण अभाव के कारण यह कहा जा सकता है कि इस काल में भारत की सांस्कृतिक धारा ने कुछ परिवर्तन महसूस किये। उत्खनन के स्तीकरण के आधार पर इन मृण-मूर्तियों को खृष्टाब्द के प्रथम अथवा द्वितीय शती में रखा जा सकता है। यह वह काल था जिस समय शक सम्वत्सर का उद्घाटन कनिष्क कर चुके थे। इस समय कुषाणों के राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक विचार उत्तर-पश्चिम एवं उत्तरी भारत में पसर रहे थे।

संदर्भ-संकेत

(१) उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ जिले के घोसी तहसील में है। नार्दर्न इंडिया पत्रिका (१ मई, ६८) पृष्ठ ३। (२) गोवर्द्धन राय शर्मा, कुषाण स्टडीज, चि० १०, (३) वही, चि० ९ (४) वा० श० अग्रवाल, ए० ई० न० ४, पृ० १०५ (५) शर्मा, वही, पृ० ५४ (६) ना० इ० प० (१ मई, १९६८) पृ० ३ (७) इ० आ०, १९५७-५८, पृ० ५० (८) बुलेटिन आफ म्यूजियम्स एण्ड आर्कियोलाजी इन यू० पी०, न० १, पृ० ३१ (९) इ० आ० १९६१-६२ पृ० ५६ (१०) रिपोर्ट्स आन दी कुमारहार एस्क्विवेशन्स, पृ० १ १३ (११) इ० आ०, १९६०-६१ पृ० ६ (१२) आ० स० इ० ए० रि० (१९११-१२) फलक, ६४ और ६६ (१३) वही, १९०७-८, पृ० ५५ (१४) ए० इ० न० ४ (१५) शर्मा, वही, पृ० ५५ (१६) रोजन फील्ड, दी डाइनेस्टिक आर्ट्स आफ दी कुषाणाज, पृ० ५२ (१७) ए० इ० न० ४, फलक, ५५, (न० २३४) शर्मा, वही, फलक, ४७, (न० २०) (१८) शर्मा, सकेवेशन्स एट कौशाम्बी, फ० ४७ (२४) वही, कुषाण स्टडीज फ० २४ और २५ ए० इ० न० ४, फ० ५५ सतीश चन्द्र काला, टेराकोटाज आफ कौशाम्बी, फ० ३२ ए, चित्र १ से ५ तक, पृ० १३७। (१९) शर्मा, वही, पृ० ५७ (२०) शर्मा, वही, पृ० ५७ (२१) वही ५७ (२२) वही ५७ (२३) वही ५८

नए प्रकाशन

समीक्षकों की दृष्टि में

'अचला'
मुहम्मद इसराईल अंसारी

प्रकाशक : साहित्य वाणी
इलाहाबाद—३
संस्करण : प्रथम १६७०
मूल्य : चार रुपये पचास पैसा

'अचला'—मुहम्मद इसराईल अन्सारी का लिखा, ग्राम-जीवन की पृष्ठ-भूमि पर आधारित एक अभिनव उपन्यास। यह उपन्यास इस ढंग के रचित अनेक उपन्यासों में एक नये आकर्षण से युक्त लगता है, क्योंकि यहाँ कलम उठाने के पूर्व गाँव की किसी बिटिया को चटक वासनात्मक रंग देकर रसिक नागरिकों को लुभाने की योजना नहीं है और न यही कि प्रेम-रोग की हाय-हाय युक्त प्रेम-लीला के लिए गाँव का एकान्त प्राकृतिक कोना चुन लिया गया है, जिसमें गाँव का सहज-सरल परिवेश मात्र प्रासंगिक अथवा पूरक बन कर नियोजित होता है। यहाँ गाँव का सजग कथाकार गांव की आकृति-प्रकृति का ऐसा सन्तुलित चित्रपट प्रस्तुत करता है, जिसमें उसकी मूल समस्याएँ और उनका समाधान ताने-बाने की तरह कसते चलते जाते है। कहानी विवाह और प्रेम से उठ कर और ऊँचाई तक जाती है।

उपन्यास की मुख्य नायिका सच्चे अर्थों मे गाँव की बेटी है, वह धरती सी सहिष्णु और सहज संवेदनशील है। उसका प्यार का पुकारने का नाम बुचिया है। वह अभावपुर के एक गरीब किसान रघुवर की बेटी है। अपने पिता के ऊपर आई एक सुलतानी आफत के अवसर पर वह जिस बाल सहचर का स्नेह-सहयोग प्राप्त करती है, वह अखिलानन्द जैसे तपस्वी की शिक्षाओं मे पुष्ट होकर पूरे गाँव को उत्थान के शीतल अंक में समेट लेने वाला ऐसा अक्षयवट सिद्ध होता है जिसके नीचे शोषण अत्याचार दमन और अशिक्षा के अनेक विषैले पौधे पीले पड कर सूख जाते है

प्रत्यक्ष रूप से उपन्यास में पात्रों की दो कतारें हैं। पहली कतार में अनिल, ऊषा, छलिया, अखिलानन्द, रघुवर, सुधीर, अचला, नजीर, जहीर और जगन नारायण हैं। यह सज्जनों की कतार है। यह गाँव के पांडवों की कतार है, जिसमें आचार्य अखिलानन्द ग्रामोत्थान का रथ हाँक रहे हैं और अर्जुन की तरह पूर्णरूपेण उनका अनुगत होकर अनिल जयी होता है। दूसरी कतार में बेनीमाधव, अमर, जगदीश, परमेश्वर, शिवपूजन, गणपति, नगेन्द्र, रामहित, बंशी और चन्दन हैं। यह दुर्जनों का समूह है। जिनके नायक बेनीमाधव हैं। इन्हीं पर यह दिलचस्प कहानी खड़ी है।

जमींदार, किसान, अमीन, पूँजीपति, महंथ, साधु, शिक्षक, चोर, गुण्डे और समाज के विविध लोगों के सजीव-व्यक्तित्व से पूर्ण यह कहानी क्रमशः उलझती जाती है। हर अध्याय के अन्त में एक पेच लग जाता है। पाठक जल्दी-जल्दी उत्सुकता वश समाधान खोजता है। आदि का हल्का मालगुजारी—काण्ड मध्य में आते-आते गम्भीर मार-पीट का रूप धारण कर लेता है। अन्त में उसी से सम्बन्धित मुकदमे के फैसले के सरगोशान के बीच मामला रफा-दफा होते-होते छुरा बाजी हो जाती है। फिर जिज्ञासा पर शान चढ़ जाती है। गाँव की राजनीति चमक उठती है। उपन्यासकार ऐसी कौशलपूर्ण अन्विति प्रदान करता है कि स्पष्टतः ऊपर लिखे दो शिविर बन जाते हैं। सत्-असत् की लड़ाई दीखने लगती है। जैसे-जैसे अन्त आता है, लगता है कि अच्छे यदि अच्छाई के रास्ते पर चलते ही जायँ, बुरे का बुराई से प्रभावित होकर अपना रास्ता छोड़ न दें तो अन्त में बुराई स्वयं थक कर ढह जाती है। दुष्ट मुँह के बल गिर जाते हैं। यहाँ भी यही होता है। बेनीमाधव अकेला पड़ जाता है। अमर और नवल उसका साथ छोड़कर खिसक जाते हैं। उसके अन्त पर किसी के मुँह से हाय नहीं निकलती।

सबके ऊपर एक प्रभावशाली व्यक्तित्व है आचार्य अखिलानन्द का। अमर देव एक दिन जिनका दर्शन करता है और उसका हृदय-परिवर्तन हो जाता है। हिन्दू, मुसलिम और ईसाई तीनों संस्कृतियों की पावन त्रिवेणी का वहाँ दर्शन होता है जहाँ वे निवास करते हैं। मुसलमान ब्रह्मसूत्र पर चिन्तन कर रहे हैं और अधिकार-जीवी अँग्रेज महिला भारतीय सेवा-त्याग की भावना में बह रही है। विशेषता कि कहीं कुछ अस्वाभाविक नहीं। आचार्य का आदि का प्रशान्त व्यक्तित्व कथा धारा की तीव्रता के साथ अन्त में तूफानी हो जाता है। गुण्डई की एक धारा शहर से आकर टकराती है। एक ओर गाँव में उनका स्वागत समारोह है और अचला के विवाह का प्रस्ताव चल रहे हैं दूसरी ओर गुण्डों का दल गाँव में जुट रहा है। पाठक साँस रोक कर 'क्या हुआ' की प्रतीक्षा कर रहे हैं। इस समय विमला का आना एक अजीब आह्लादक हो जाता है और डाकुओं का सामना परम सन्तोषजनक! जैसे घटनायें बनाई नहीं गई स्वयं बन गई हैं। अनिल भटकता जरूर है पर वास्तव में वह काजल की कोठरी से बेदाग निकल आता है। विमला के प्रति उसका यह आरंभिक कथन कि 'तुम्हें प्रेम पसन्द नहीं तो हमें क्या वासना पसन्द होगी?' अन्त तक कानों में झनझनाता है

वास्तव में पूरी कथा में गाँधीवादी-विचार-धारा का दर्शन होता है। क्रान्तिपुर और अभाव पुर ये दोनों गाँव के नाम सांकेतिक और सार्थक हैं सेवा त्याग हृदय परिवर्तन

हिन्दू-मुसलिम एकता, ग्राम-सुधार, शिक्षा-सुधार, कृषि-सुधार के साथ अत्याचार-अन्याय और दमन-शोषण का अन्त उपन्यास के विरामस्थल है। आदर्श और यथार्थ के समन्वय का अछूता रूप दिखाई पड़ता है। सबसे ऊपर स्वर है 'ग्राम सुधार' का गाँवों का जो वर्तमान रूप है वह उसे एक शब्द में 'नरक' की संज्ञा प्रदान करने के लिये यथेष्ट है। गाँव के शिक्षित और समझदार लोग यदि अपने-अपने स्वार्थ में ही उलझे रहे तो गाँव के इस नरक की सफाई क्या होने की नहीं। गाँव को स्वर्ग बनाने के लिए कठिनाइयों से जूझना है। कठिन परिश्रम करना है। ठोस कदम उठाना है। प्राणों की बाजी लगाना है। परम्परा और रूढ़ियों को ठोकर लगाना है। संक्षेप में वही करना है जो अनिल ने किया और जिसका अचला ने अनुसरण किया। आज गाँवों में आचार्य अखिलानन्द जैसे सन्यासियों की आश्यकता है, भोग-विलास के लिये नहीं, प्रेमी और प्रेमिकाओं को सेवा का मंत्र फूँकने के लिये प्रणय-सूत्र में आबद्ध होना है। पुरुष अकेले कुछ नहीं कर सकता। हर सुधार और हर उत्थान के पीछे नारी होती है। उसकी महिमा का उद्‌घाटन होना चाहिए।

यहाँ इस उपन्यास में हम यही देखते हैं। इसका नाम इसीलिये सार्थक है। वह नारी जो किसी किशोरावस्था तक बुचिया रही, तरुणी होकर उत्तर दायित्वों का बोझ उठा-कर अचला हो गई, जाने अनजाने उपन्यास ही हर घटना को प्रभावित करती है। गाँव के समस्त उत्थान के मूल में वह वर्तमान है। उसके रूप का अधिक भव्य और उज्ज्वलतर करने के लिये उपन्यास कार ने ऊषा, छलिया, अचला और विमला नाम के इन चार और नारी पात्रों की सृष्टि की है। इन चारों की प्रेम-सम्बन्धी समस्यायें भिन्न-भिन्न हैं। हाँ, कहीं भी उच्छृंखलता, अमर्यादा या वासनात्मक होड़ नहीं है। मानो अचला के मूक प्यार की छाया सब पर पड़ी हुई है। यहाँ गाँव के प्यार का असली रूप है!

इस ढंग के उपन्यास की सृष्टि कर मुहम्मदइसराईल अन्सारी ने धड़ाधड़ ग्राम-जीवन पर उपन्यासों के महल खड़े करते जाते उपन्यास कारों के सामने एक आदर्श प्रस्तुत किया है। गाँवों का कलात्मक चित्र होने के कारण उन्हीं की सरलता, सादगी और मौन-अन्तररसता से समन्वित कहानी का संघर्ष अन्तर्विरोधों के बीच बढ़ता जाता है। पाठक अपनी समस्त जिज्ञासाओं को समेटे उसके पीछे वहाँ जाकर रुकता है जहाँ लगता है कि नया सवेरा हो गया। गाँव बदल गये।

विवेकी राय

उसका शहर
डॉ० प्रमोद सिन्हा

प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली,
संस्करण : प्रथम
मूल्य : चार रुपये

अक्सर जब मैं जीवन के बारे में सोचने बैठा हूँ, मैं दहशत से घिर गया हूँ। कहीं ऐसा कुछ है जो हमें लगातार तोड़ रहा है। सबसे बुरी बात तो यही है कि व्यक्ति और समाज के बीच की पवित्रता ही समाप्त होती जा रही है। समाज का विकास हुआ ही इसी आधार पर था कि वह व्यक्ति को लगातार प्रेरित करता हुआ उसे सहज बना रहने दे और उसे पशु-धर्म से बचाकर मानवीय-देवत्व की भूमि प्रदान करे। मगर अब ऐसा सोचना ही हास्यास्पद लगता है। रूढ़ियों ने हमें इतना पंगु और जर्जर कर दिया है कि औदात्य की कल्पना मात्र से ही शर्म आने लगती है। आधुनिक समाज क्रमशः नरक का स्थानापन्न बनता जा रहा है, दंश और ग्लानि भरा अभिशप्त जीवन जीना ही जिसकी विशेषता है। इतना तय है कि सामाजिक संरचना अपने आधुनिक रूप में अत्यंत भयावह है।

'उसका शहर' इसीलिए खौफनाक है कि उसके सारे पात्र अपने व्यक्तित्व को खो कर लुंज-पुंज होकर व्यर्थ भटक रहे हैं। इसका पारिवारिक ढाँचा किसी रूप में वह है ही नहीं जिसे हमारे पूर्वजों ने कभी आधार दिया था। वस्तु के आधार पर देखा जाए तो आमूल अपने शहर को बार-बार इजेल के सामने खड़ा होकर उदास रंगों में चित्रित करना चाहता है। वह खुद बुरी तरह से टूटा हुआ है। पत्नी नीरा को वह तलाक दे चुका है और अपनी तेरह वर्षीया बेटी लूपिका (?) के साथ रह रहा है। कुछ ही महीने हुए उसने नौकरी से अवकाश प्राप्त किया है। इतने बड़े अवकाश को भरने का शगल क्या हो, यह उसकी समझ मे नहीं आता। पत्नी से वह घृणा करता है। उसकी कल्पना तक वह नहीं करना चाहता, इसीलिए पत्नी से संबंधित सारी चीजों को उसने नष्ट कर दिया है। बेटी मां के बारे मे कभी जिज्ञासु भी होती है तो पिता की तनी हुई भौंहों को देखकर सहम जाती है। आमूल के साथ दिक्कत यही है कि उसकी पहचान की भाषा तक समाप्त हो गयी है। वह लगातार सारे संदर्भों से कटता जा रहा है। कुल मिलाकर वह ऐसी खोखली दीवार है जिसकी नीव भी पोली है।

अल्पवयस से ही लूपिका अपने आसपास के उदास और इस विकृत माहौल को देखते हुए असमय ही प्रौढ़ हो जाती है। उसको सबसे अधिक तकलीफ इसी बात की है कि वह मा को भुला नहीं पाती और पिता से उस विषय को लेकर परस्पर कोई संवाद नहीं कर पाती। पिता की कामकुंठाओं से भी वह परिचित है पिता अक्सर ही किसी औरत के साथ अपने कमरे में बंद पड़े होते ऐसे में सिवाय घुटने रहने के उसके पास और कोई उपाय ही नहीं

है। वह अकेले ही अपने यौवन को आता देखती है, मुग्ध होती है, प्रतिप्रश्न करती है। इन्ही स्थितियों में प्रो० दशानन से उसका परिचय होता है, लेकिन वह खुद कोई भी निर्णय लेने में असमर्थ होती है और विवाह की प्रस्तावना बस भूमिका रूप में ही रह जाती है। इस भूमिका के पूरी न हो पाने का सबसे बड़ा कारण यह भी था कि आमूल को अपनी बेटी लूपिका से मानसिक रीत मिलती है क्योंकि वह हूबहू अपनी मा की तरह है, रूप में भी और आचरण में भी। आमूल अपनी बेटी को अपनी भावनाओं के लिए इस्तेमाल करता है और यहाँ तक कि वह उसे माडल बनाने तक से भी नहीं चूकता। प्रो० दशानन अपनी विचित्रताओं के कारण लूपिका के संपर्क में आये हुए हैं। वे हर वर्ष अपने जन्म दिवस के अवसर पर सिर्फ एक व्यक्ति को अपने साथ खाने पर आमंत्रित करते हैं और हर बार वह कोई न कोई तेज-तर्रार लड़की ही होती है। इसमें उन्हें सुख मिलता है। लूपिका के सान्निध्य में आने पर भी वे अपनी ही कुंठाओं के कारण उसे सम्पूर्णतया प्राप्त नहीं कर पाये। वे लूपिका के सम्पर्क मे रहते हुए किसी और बड़े अवसर की प्रतीक्षा करते रहे।

दूसरे पात्रों में आमूल का एक परिचित है जिनका नाम मित्र है। उनकी अपनी पत्नी एग्नी से कभी पटी नही। दरअसल एग्नी का स्वभाव ही पुरुषों जैसा रहा है। एग्नी पति का दास समझनेवाली महिला है। उसे पति के रूप में पूर्ण समर्पित व्यक्तित्व की आवश्यकता है। और वह अपने निर्णय में किसी भी तरह के परिवर्तन को सहन नहीं कर सकती यहाँ तक घर-बाहर के सारे निर्णय भी मित्र को उसी के अनुसार लेने पड़ते है। फलतः न चाहते हुए भी उन्हें अपने यहाँ एग्नी के अनुरोधवश श्री को आश्रय देना पड़ा जो उनके और श्री दोनो के लिए, कल्याणकारी नहीं हुआ। श्री मित्र की प्रतिद्वंद्विता में आकर अपना ही नुकसान कर बैठे। वे पहले ही कम दुखी नहीं थे। मां की लम्बी बीमारी फिर उसकी मृत्यु और बहन के पागलपन के दौरे ने उन्हें बड़ा असहाय बना दिया था। बस एग्नी का कुछ समय का साथ ही उनको मन में पुलक जगाये रक्खा। मित्र और एग्नी की स्थिति एक धरातल पर दो समानान्तर रेखाओं जैसी है। उनमें सारी बातों के बावजूद कहीं न कहीं अलगाव की एक स्पष्ट रेखा है। इसलिए विवाह के प्रारंभिक दौर के पश्चात् वे कभी संतुष्ट नहीं हो सके। एग्नी और आमूल किसी समय परस्पर आकर्षित थे। आमूल ने एग्नी का एक बड़ा खूबसूरत सा चित्र भी बनाया था, लेकिन सारी असमानताओं के बावजूद एग्नी और मित्र चाहकर भी एक दूसरे को तलाक नहीं दे पाये; दे पाते जो शायद सुखी होते। हांलाकि आमूल ऐसा करने के बाद भी सुखी नहीं हो पाया।

व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध एक दूसरे में किस तरह से जटिलताओं को निर्मित कर देता है 'उसका शहर' में इसी का फैलाव है ठीक बारिश में डूबते हुए शहर पर शाम के फैलाव की तरह। कोई भी सुखी नहीं है। सभी किसी न किसी ग्रन्थि से पीड़ित हैं। पढ़े-लिखे सभ्य कहे जाने वाले लोग भी कितने असंस्कारी और संस्कृति-विहीन होते हैं, इसका एक बारीक रेखांकन इस औपन्यासिक कृति में है। स्वार्थ जब दूसरों की भावनाओं को गेंद बना लेता है तब इसी तरह की ग्रन्थियाँ बनती हैं। तब साथ रहते हुए भी लोग समझौता नहीं कर पाते चाहे वह पिता-पुत्र का रिश्ता हो या पति-पत्नी का और सारी चीजों की

तरह जीवित रहना भी एक कला है या हम यूं कहें कि भारतीय संस्कारों ने ही जीने को कलात्मक जीने के रूप में परिभाषित किया था। संस्कारों के साथ जो चीज सबसे पहले छूटती है वह होती है कला। कलात्मकता के समाप्त होने का अर्थ है फूहड़पन। पश्चिम के आयातित संस्कार हमें एकदम फूहड़पन की ओर ले जा रहे हैं। मोजैक किए हुए फर्श पर दूब नहीं उगती उसके लिए तो भूमि की सहज उर्वराशक्ति ही चाहिए। आमूल, नीरा, मित्र, एग्नी और उन सबके बीच में फैली लूपिका सब इस उर्वरता से वंचित हो गये हैं। असहिष्णुता पारिवारिक जीवन के लिए मारक व्याधि होती है। जीवन में भावना भी उतनी ही आवश्यक है जितना तर्क। आमूल सब कुछ को एक तटस्थ दर्शक की भाँति ही देखते रहना चाहते हैं। उनके लिए किसी से भी अत्यधिक लगाव फालतू चीज है। इसी वैयक्तिकता के कारण आमूल खुद कष्ट भोगते हैं अपनी बेटी को भी अभिशप्त करते हैं।

प्रमोद सिन्हा ने आधुनिक जीवन के इन सारे सूत्रों को सही जगह पकड़ा है लेकिन वे उसमे अपेक्षित गहराई नहीं ला पाये। कारण कुछ भी हो सकता हैं लेकिन मुझे यह आवश्यक लगता है कि रचना में ऐसा कुछ होना चाहिए जो हमारी संवेदना को विस्तार दे। कम से कम पाठक को यह अधिकार तो देना ही चाहिए कि वह पात्रों के दुःख में शामिल हो सके। अन्यथा बात तो वहीं रह जायेगी जहाँ से शुरू हुई थी। राह चलते लोगों और पाठकों में फर्क होता है। एक दृश्य को सिर्फ तमाशे के रूप में इस्तेमाल करता है, दूसरा सहभोक्ता हो जाता है। मैं चाहकर भी आमूल और लूपिका की विषय मानसिकता के साथ अपना तालमेल नहीं बैठा पाया। घटनाएँ सभी बाहर ही बाहर घटती गयी किसी ने अनुगुंजन नहीं पैदा किया। मैं इसे रचनाकार की एक कमजोरी मानता हूँ।

पर इस उपन्यास की खूबी इसका शिल्प है। सारी चीजें अद्भुत रूप से बिखरी हुई हैं। (यह दूसरी बात है कि उन लपेट में भाषा भी आ गयी है) और इस बिखराव के अंदर से 'स्थितियाँ' इसका ढाँचा खड़ी करती गयी हैं। उपन्यास की प्रचलित परम्परा से यह उपन्यास इसलिए भी अलग है कि इसमें न वह किस्सागोई है जो मध्यवर्गीय महिलाओं के दोपहर की पसंद होती है और न वह सामाजिक क्रांति भावना ही है जो पाठक की आँखों मे उँगली डालकर पुकारती हो। सुविधा जीवियों का सम्बन्ध अस्तित्वक्षयता के रूप में विकसित होकर किस तरह के मानसिक नरक का निर्माण करता है इसीका संक्षिप्त 'एब्सर्ड' हवाला 'उसका शहर' में दिया गया है। यही इसकी सफलता भी है।

अमर गोस्वामी

रजिस्ट्रार न्यूजपेपर्स एक्ट के अन्तर्गत

विज्ञप्ति

१.	प्रकाशन का नाम	हिन्दुस्तानी
२.	प्रकाशन की तिथि	त्रैमासिक (जनवरी, अप्रैल, जुलाई तथा अक्टूबर)
३.	मुद्रक का नाम	नागरी प्रेस, दारागंज, प्रयाग
४.	राष्ट्रीयता	भारतीय
५.	पता	नागरी प्रेस, दारागंज, प्रयाग
६.	प्रकाशक	श्री उमाशंकर शुक्ल, सचिव तथा कोषाध्यक्ष
७.	राष्ट्रीयता	भारतीय
८.	पता	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
९.	सम्पादक का नाम	श्री बालकृष्ण राव, प्रधान सम्पादक डॉ० सत्यव्रत सिन्हा, सहायक सम्पादक
१०.	राष्ट्रीयता	भारतीय
११.	पता	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
१२.	स्वामित्व	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

मैं उमाशंकर शुक्ल, सचिव तथा कोषाध्यक्ष, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, घोषित करता हूँ कि उपरिलिखित मेरी जानकारी के अनुसार बिल्कुल ठीक है।

उमाशंकर शुक्ल

सचिव तथा कोषाध्यक्ष

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त श्री लीलाधर गुप्त	नैषध परिशीलन डॉ० चण्डिकाप्रसाद शुक्ल
चन्दबरदायी और उनका काव्य डॉ० विपिनबिहारी त्रिवेदी	मध्यकालीन हिन्दी सन्त : विचार और साधना डॉ० केशनीप्रसाद चौरसिया
साहित्य की मान्यताएँ श्री भगवतीचरण वर्मा	बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' : व्यक्ति एवं काव्य डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे
श्री शंकराचार्य पं० बलदेव उपाध्याय	प्राचीन भारत में नगर तथा नगर जीवन डॉ० उदयनारायण राय
खड़ीबोली का लोकसाहित्य डॉ० सत्या गुप्त	पूर्वी पाकिस्तान के अंचल में सूर्य प्रसन्न वाजपेयी
मध्यकालीन भारतीय संस्कृति डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा	कश्मीर भगवतीशरण सिंह
ग्रह-नक्षत्र डॉ० सम्पूर्णानन्द	भ्रष्टाचार और लोकसतर्कता नित्येन्द्रनाथ शील
हिन्दी भाषा और नागरी लिपि सं० लक्ष्मीकान्त वर्मा	मालवी लोक-साहित्य डॉ० श्याम परमार

- **एकेडेमी द्वारा प्रकाशित पुस्तकों की जानकारी के लिए विस्तृत सूचीपत्र निःशुल्क मँगावें।**
- **पुस्तक विक्रेताओं को विशेष सुविधा। नियमावली के लिए लिखें।**